प्रेम-प्रसून

संपादक

सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता

श्रीदुलारेलाल

(सुधा-संपादक)

श्रेष्ठ उपन्यास और कहानियाँ

अप्सरा	२॥), ३)	प्रेम की भेंट	१॥), २)
अमिताभ	४॥)	प्रेम-द्वादशी	१), २)
अलका	२), २॥)	प्रेम-पंचमी	१), २)
अँधेरी रात	१॥)	बहता हुआ फूल	४॥)
आत्महत्या	१॥), २)	बाहर-भीतर	१), २)
आशा-निराशा	२)	बिदा	४), ४॥)
उलटा मार्ग	३)	विराटा की पद्मिनी	४)
एक सूत्र	३)	भाई	१), २)
कंट्रोल	२॥)	मा	४), ४॥)
कुंडली-चक्र	२), २॥)	मिस्टर व्यास की कथा	३), ३॥)
केन	१), २)	रंगभूमि (दो भाग)	८), ६॥)
क़ैदी	२)	लगन	१), २)
कोतवाल की करामात	१), २)	वाटिका	॥), १॥)
ख़वास का ब्याह	२)	विक्रमादित्य	४)
गढ़-कुंडार	४), ४॥)	विकास (दो भाग)	८)
चंद्रगुप्त मौर्य	३)	विजया	२), ३)
चित्रशाला (दो भाग)	२), ४)	संसार-रहस्य	१॥), २॥)
जागरण	३॥), ४॥)	सौ अजान और एक सुजान	१), १॥)
नवाब लटकन	२)	हृदय की प्यास	३), ३॥)
निरंजन शर्मा	२)		

हिंदुस्थान-भर की हिंदी-पुस्तकें मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार, ३६, लाटूश रोड, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का सातवाँ पुष्प

प्रेम-प्रसून

[कहानियों का अनूठा संग्रह]

लेखक

स्व० प्रेमचंद

[रंगभूमि, कर्बला, प्रेम-पंचमी, प्रेम-द्वादशी, प्रेम-पच्चीसी, प्रेमाश्रम, सेवा-सदन, प्रेम-पूर्णिमा, सप्तसरोज, गबन, गोदान, नवनिधि आदि के रचयिता]

855-H
556

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

चतुर्थावृत्ति

सं० २००५ वि०] [मूल्य ३)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, क्लास्थवेट रोड, प्रयाग
३. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

भूमिका

गल्प, आख्यायिका या छोटी कहानी लिखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। धर्म-ग्रंथों में जो दृष्टांत भरे पड़े हैं, वे छोटी कहानियाँ ही हैं, पर कितनी उच्च कोटि की। महाभारत, उपनिषद्, बुद्ध-जातक, बाइबिल, सभी सद्ग्रंथों में जन-शिक्षा का यही साधन उपयुक्त समझा गया है। ज्ञान और तत्त्व की बातें इतनी सरल रीति से और क्योंकर समझाई जातीं? किंतु प्राचीन ऋषि इन दृष्टांतों द्वारा केवल आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वों का निरूपण करते थे। उनका अभिप्राय केवल मनोरंजन न होता था। सद्ग्रंथों के रूपकों और बाईबिल के parables देखकर तो यही कहना पड़ता है कि अगले जो कुछ कर गए, वह हमारी शक्ति से बाहर है; कितनी विशुद्ध कल्पना, कितना मौलिक निरूपण, कितनी ओजस्विनी रचना-शैली है कि उसे देखकर वर्तमान साहित्यिक बुद्धि चकरा जाती है। आजकल आख्यायिका का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। उसमें प्रेम की कहानियाँ, जासूसी क़िस्से, भ्रमण-वृत्तांत, अद्भुत घटना विज्ञान की बातें, यहाँ तक कि मित्रों की गप-शप सभी शामिल कर दी जाती हैं। एक अँगरेज़ी समालोचक के मतानुसार तो कोई रचना, जो पंद्रह मिनट में पढ़ी जा सके, गल्प कही जा सकती है। और-तो-और, उसका यथार्थ उद्देश्य इतना अनिश्चित हो गया है कि उसमें किसी प्रकार का उपदेश होना दूषण समझा जाने लगा है। वह कहानी सबसे नाक़िस समझी जाती है, जिसमें उपदेश की छाया भी पड़ जाय।

आख्यायिकाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रथा धर्म-ग्रंथों ही में नहीं, साहित्य-ग्रंथों में भी प्रचलित थी। कथा-सरित्सागर इसका उदाहरण है। इसके पश्चात् बहुत-सी आख्यायिकाओं को एक श्रृंखला में बाँधने की प्रथा चली। बैताल-पच्चीसी और सिंहासन-बत्तीसी इसी श्रेणी की पुस्तकें हैं। उनमें कितनी नैतिक और धार्मिक समस्याएँ हल की गई हैं, यह उन लोगों से छिपा नहीं, जिन्होंने उनका अध्ययन किया है। अरबी में सहस्र-रजनी-चरित्र इसी भाँति का अद्भुत संग्रह है, किंतु उसमें किसी भाँति का उपदेश देने की चेष्टा नहीं की गई। उसमें सभी रसों का समावेश है, पर अद्भुत-रस ही की प्रधानता है, और अद्भुत-रस में उपदेश की गुंजाइश नहीं रहती। कदाचित् उसी आदर्श को लेकर इस देश में शुक-बहत्तरी के ढंग की कथाएँ रची गईं, जिनमें स्त्रियों की बेवफ़ाई का राग अलापा गया है। यूनान में हकीम ईसप ने एक नया ही ढंग निकाला। उन्होंने पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा उपदेश देने का आविष्कार किया।

मध्यकाल काव्य और नाटक-रचना का काल था; आख्यायिकाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। उस समय कहीं तो भक्ति-काव्य की प्रधानता रही, कहीं राजों के कीर्ति-गान की। हाँ, शेख़सादी ने फ़ारसी में गुलिस्ताँ-बोस्ताँ की रचना करके आख्यायिकाओं की मर्यादा रक्खी। यह उपदेश-कुसुम इतना मनोहर और सुंदर है कि चिरकाल तक प्रेमियों के हृदय इसकी सुगंध से रंजित होते रहेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में फिर आख्यायिकाओं की ओर साहित्यकारों की प्रवृत्ति हुई; और तभी से सभ्य-साहित्य में इनका विशेष महत्त्व है। योरप की सभी भाषाओं में गल्पों का यथेष्ट प्रचार है, पर मेरे विचार में फ़्रांस और रूस के साहित्य में जितनी उच्च कोटि की गल्पें पाई जाती

हैं, उतनी अन्य योरपीय भाषाओं में नहीं। अँगरेज़ी में भी डिकेंस, वेल्स, हार्डी, किप्लिंग, शार्लट यंग, ब्रांटी आदि ने कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन इनकी रचनाएँ गाईमासाँ, बालज़क या पियेर-लोटी के टक्कर की नहीं। फ्रांसीसी कहानियों में सरसता की मात्रा बहुत अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त गाईमासाँ और बालज़क ने आख्यायिका के आदर्श को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनमें आध्यात्मिक या सामाजिक गुत्थियाँ अवश्य सुलझाई गई हैं। रूस में सबसे उत्तम कहानियाँ काउंट टॉलस्टॉय की हैं। इनमें कई तो ऐसी हैं, जो प्राचीन काल के दृष्टांतों की कोटि की हैं। चेकाफ़ ने बहुत कहानियाँ लिखी हैं, और योरप में उनका प्रचार भी बहुत है; किंतु उनमें रूस के विलास-प्रिय समाज के जीवन-चित्रों के सिवा और कोई विशेषता नहीं। डासटाएस्की ने भी उपन्यासों के अतिरिक्त कहानियाँ लिखी हैं, पर उनमें मनोभावों की दुर्बलता दिखाने ही की चेष्टा की गई है। भारत में बंकिमचंद्र और डॉक्टर रवींद्रनाथ ने कहानियाँ लिखी हैं, और उनमें से कितनी ही बहुत उच्च कोटि की हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास में आकार के अतिरिक्त और भी कोई अंतर है? हाँ, है, और बहुत बड़ा अंतर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अंतर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लावें, चाहे जितने दृश्य दिखावें, चाहे जितने चरित्र खींचें; पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केंद्र पर आकर मिल जायँ। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिये ही रहते हैं; पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुंजाइश नहीं,

बल्कि कई सुविज्ञ जनों की सम्मति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए। उपन्यास में आपकी क़लम में जितनी शक्ति हो, उतना ज़ोर दिखाइए, राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफ़िल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिए (भाषा सरस होनी चाहिए), ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका में आप महफ़िल के सामने से चले जायँगे, और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नहीं उठा सकते। वहाँ तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिए, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है; और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिये लिखी जाती है, जिसके पास न धन है, न समय। यहाँ तो सरलता में सरलता पैदा कीजिए, यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफ़िल शुरू होते ही अपनी संपूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात-भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।

हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते हैं, तो स्वभावतः यह जानना चाहते हैं कि यह कौन है, पहले उससे परिचय करना आवश्यक समझते हैं। पर आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरंभ की जाती है। कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरंभ हो जाती है, कहीं पुलिसकोर्ट के एक दृश्य से, परिचय पीछे आता है। यह अँगरेज़ी आख्यायिकाओं की नक़ल है। इससे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है। योरपवालों की देखादेखी पत्रों द्वारा, डायरी या टिप्पणियों द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। मैंने स्वयं इन सभी प्रथाओं पर रचना

की है; पर वास्तव में इससे कहानी की सरलता में बाधा पड़ती है। योरप के विज्ञ समालोचक कहानियों के लिये किसी अंत की भी ज़रूरत नहीं समझते। इसका कारण यही है कि वे लोग कहानियाँ केवल मनोरंजन के लिये पढ़ते हैं। आपको एक लेडी लंदन के किसी होटल में मिल जाती है। उसके साथ उसकी वृद्धा माता भी है। माता कन्या से किसी विशेष पुरुष से विवाह करने के लिये आग्रह करती है। लड़की ने अपना दूसरा वर ठीक कर रक्खा है। मा बिगड़कर कहती है, मैं तुझे अपना धन न दूँगी। कन्या कहती है, मुझे इसकी परवा नहीं। अंत में माता अपनी लड़की से रूठकर चली जाती है। लड़की निराशा की दशा में बैठी है कि उसका अपना पसंद किया युवक आता है। दोनो में बात-चीत होती है। युवक का प्रेम सच्चा है। वह बिना धन के ही विवाह करने पर राज़ी हो जाता है। विवाह होता है। कुछ दिनों तक स्त्री-पुरुष सुख-पूर्वक रहते हैं। इसके बाद पुरुष धनाभाव से किसी दूसरी धनवान् स्त्री की टोह लेने लगता है। उसकी स्त्री को इसकी ख़बर हो जाती है, और वह एक दिन घर से निकल जाती है। बस कहानी समाप्त कर दी जाती है; क्योंकि Realists अर्थात् यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नज़र नहीं आता, बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फ़ायदा ही क्या, वह तो हम अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिये तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही ग़ायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण-मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का

समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।

हमने इन कहानियों में आदर्श को यथार्थ से मिलाने की चेष्टा की है। हम कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। हमारा ख़याल है कि आख्यायिका में ये तीन गुण अवश्य होने चाहिए—

(१) आध्यात्मिक या नैतिक उपदेश,

(२) अत्यंत सरल भाषा,

(३) स्वाभाविक वर्णन-शैली।

इन्हीं सिद्धांतों के अनुसार इन कहानियों की रचना की गई है। आशा है, पाठकों का इनसे मनोरंजन होगा।

विनीत—

प्रेमचंद

सूची

प्रेम-प्रसून

शाप

मैं बर्लिन-नगर का निवासी हूँ। मेरे पूज्य पिता भौतिक विज्ञान के सुविख्यात ज्ञाता थे। भौगोलिक अन्वेषण का शौक़ मुझे भी बाल्यावस्था ही से था। उनके स्वर्गवास के बाद मुझे यह धुन सवार हुई कि पृथ्वी के समस्त देश-देशांतरों की पैदल सैर करूँ। मैं विपुल धन का स्वामी था, वे सब रुपए एक बैंक में जमा कर दिए, और उससे शर्त कर ली कि मुझे यथासमय रुपए भेजता रहे। इस कार्य से निवृत्त होकर मैंने सफ़र का पूरा सामान किया। आवश्यक वैज्ञानिक यंत्र साथ लिए, और ईश्वर का नाम लेकर चल खड़ा हुआ। उस समय यह कल्पना मेरे हृदय में गुदगुदी पैदा कर रही थी कि मैं वह पहला प्राणी हूँ, जिसे यह बात सूझी कि पैरों से पृथ्वी को नापे। अन्य यात्रियों ने रेल, जहाज़ और मोटर-कार की शरण ली है; मैं पहला ही वह वीरात्मा हूँ, जिसने अपने पैरों के बूते पर प्रकृति के विराट् उपवन की सैर के लिये कमर बाँधी है। अगर मेरे साहस और उत्साह ने यह कष्ट-साध्य यात्रा पूरी कर ली, तो भद्र-संसार मुझे सम्मान और गौरव के मसनद पर बैठावेगा, और अनंत काल तक मेरी कीर्ति के राग अलापे जायँगे। उस समय मेरा मस्तिष्क इन्हीं विचारों से भरा हुआ था। ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि सहस्रों कठिनाइयों का सामना करने पर भी धैर्य ने मेरा साथ न छोड़ा, और उत्साह एक क्षण के लिये भी निरुत्साह न हुआ।

मैं वर्षों ऐसे स्थानों में रहा हूँ, जहाँ निर्जनता के सिवा कोई दूसरा साथी न था, वर्षों ऐसे स्थानों में रहा हूँ, जहाँ की पृथ्वी और आकाश हिम की शिलाएँ थीं, मैं भयंकर जंतुओं के पहलू में सोया हूँ, पक्षियों के घोसलों में रातें काटी हैं, किंतु ये सारी बाधाएँ कट गईं, और वह समय अब दूर नहीं कि साहित्य और विज्ञान-संसार मेरे चरणों पर शीश नवाए।

मैंने इस यात्रा में बड़े-बड़े अद्भुत दृश्य देखे, और कितनी ही जातियों के आहार-व्यवहार, रहन-सहन का अवलोकन किया। मेरा यात्रा-वृत्तांत विचार, अनुभव और निरीक्षण का एक अमूल्य रत्न होगा। मैंने ऐसी-ऐसी आश्चर्य-जनक घटनाएँ आँखों से देखी हैं, जो अलिफ़लैला की कथाओं से कम मनोरंजक न होंगी। परंतु वह घटना, जो मैंने ज्ञानसरोवर के तट पर देखी, उसकी मिसाल मुश्किल से मिलेगी। मैं उसे कभी न भूलूँगा। यदि मेरे इस तमाम परिश्रम का उपहार यही एक रहस्य होता, तो भी मैं उसे काफ़ी समझता। मैं यह बता देना आवश्यक समझता हूँ कि मैं मिथ्यावादी नहीं, और न सिद्धियों तथा विभूतियों पर मेरा विश्वास है। यदि कोई दूसरा प्राणी यही घटना मुझसे बयान करता, तो मुझे उस पर विश्वास करने में बहुत संकोच होता। किंतु मैं जो कुछ बयान कर रहा हूँ, वह सत्य घटना है। यदि मेरे इस आश्वासन पर भी कोई उस पर अविश्वास करे, तो यह उसकी मानसिक दुर्बलता और विचारों की संकीर्णता है।

यात्रा का सातवाँ वर्ष था और ज्येष्ठ का महीना। मैं हिमालय के दामन में, ज्ञानसरोवर के तट पर, हरी-हरी घास पर लेटा हुआ था। ऋतु अत्यंत सुहावनी थी—ज्ञानसरोवर के स्वच्छ, निर्मल जल में आकाश और पर्वत-श्रेणी का प्रतिबिंब, जल-पक्षियों का पानी पर तैरना, शुभ्र हिम-श्रेणी का सूर्य के प्रकाश से चमकना आदि

दृश्य ऐसे मनोहर थे कि मैं आत्मोल्लास से विह्वल हो गया। मैंने स्विटज़रलैंड और अमेरिका के बहुप्रशंसित दृश्य देखे हैं, पर उनमें यह शांतिप्रद शोभा कहाँ! मानव-बुद्धि ने उनके प्राकृतिक सौंदर्य को अपनी कृत्रिमता से कलंकित कर दिया है। मैं तल्लीन होकर इस स्वर्गीय आनंद का उपभोग कर रहा था कि सहसा मेरी दृष्टि एक सिंह पर जा पड़ी, जो मंद गति से क़दम बढ़ाता हुआ मेरी ओर आ रहा था। उसे देखते ही मेरा ख़ून सूख गया, होश उड़ गए। ऐसा बृहदाकार भयंकर जंतु मेरी नज़र से न गुज़रा था। वहाँ ज्ञान-सरोवर के अतिरिक्त कोई ऐसा स्थान नहीं था, जहाँ भागकर अपनी जान बचाता। मैं तैरने में कुशल हूँ, पर ऐसा भयभीत हो गया कि अपने स्थान से हिल न सका। मेरे अंग-प्रत्यंग मेरे क़ाबू से बाहर थे। समझ गया, मेरी ज़िंदगी यहीं तक थी। इस शेर के पंजे से बचने की कोई आशा न थी। अकस्मात् मुझे स्मरण हुआ कि जेब में एक पिस्तौल, गोलियों से भरी हुई, रक्खी है, जो मैंने आत्मरक्षा के लिये चलते समय साथ ले ली थी, और अब तक प्राण-पण से इसकी रक्षा करता आया था। आश्चर्य है कि इतनी देर तक मेरी स्मृति कहाँ सोई रही। मैंने तुरंत ही पिस्तौल निकाली, और निकट था कि शेर पर वार करूँ कि मेरे कानों में ये शब्द सुनाई दिए—"मुसाफ़िर, ईश्वर के लिये वार न करना, अन्यथा तुझे दुःख होगा। सिंहराज से तुझे हानि न पहुँचेगी।"

मैंने चकित होकर पीछे की ओर देखा, तो एक युवती रमणी आती हुई दिखाई दी। उसके एक हाथ में सोने का लोटा था और दूसरे में एक थाली। मैंने अर्मनी की हूरें और कोह क़ाफ़ की परियाँ देखी हैं, पर हिमाचल-पर्वत की यह अप्सरा मैंने एक ही बार देखी, और उसका चित्र आज तक हृदय-पट पर खिंचा हुआ है। मुझे स्मरण नहीं कि 'रफ़ैल' या 'कोरेजियो' ने भी कभी ऐसा चित्र

खींचा हो। 'वैंडाइक' और 'रेमब्रांड' के आकृत-चित्रों में भी ऐसी मनोहार छवि नहीं देखी। पिस्तौल मेरे हाथ से गिर पड़ी। कोई दूसरी शक्ति इस समय मुझे अपनी भयावह परिस्थिति से निश्चित न कर सकती थी।

मैं उस सुंदरी की ओर देख ही रहा था कि वह सिंह के पास आई। सिंह उसे देखते ही खड़ा हो गया, और मेरी ओर सशंक नेत्रों से देखकर मेघ की भाँति गर्जा। रमणी ने एक रूमाल निकालकर उसका मुँह पोंछा, और फिर लोटे से दूध उँडेलकर उसके सामने रख दिया। सिंह दूध पीने लगा। मेरे विस्मय की अब कोई सीमा न थी। चकित था कि यह कोई तिलिस्म है या जादू; व्यवहार-लोक में हूँ अथवा विचार-लोक में; सोता हूँ या जागता। मैंने बहुधा सरकसों में पालतू शेर देखे हैं, किंतु उन्हें क़ाबू में रखने के लिये किन-किन रक्षा-विधानों से काम लिया जाता है। उसके प्रतिकूल यह मांसाहारी पशु उस रमणी के सम्मुख इस भाँति लेटा हुआ है, मानो वह सिंह की योनि में कोई मृग-शावक है। मन में प्रश्न हुआ—सुंदरी में कौन सी चमत्कारिक शक्ति है, जिसने सिंह को इस प्रकार वशीभूत कर लिया है। क्या पशु भी अपने हृदय में कोमल और रसिक-भाव छिपाए रखते हैं? कहते हैं कि मधुभ्रमर की अलाप काले नाग को भी मस्त कर देती है। जब ध्वनि में यह सिद्धि है, तो सौंदर्य की शक्ति का अनुमान कौन कर सकता है? रूप-लालित्य संसार का सबसे अमूल्य रत्न, प्रकृति की रचना-नैपुण्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है।

जब सिंह दूध पी चुका, तो सुंदरी ने रूमाल से फिर उसका मुँह पोंछा, और उसका सिर अपनी जाँघ पर रख उसे थपकियाँ देने लगी। सिंह पूँछ हिलाता था, और सुंदरी की अरुणवर्ण हथेलियों को चाटता था। थोड़ी देर के बाद दोनो एक गुफा में अंतर्हित हो गए।

मुझे भी धुन सवार हुई कि किसी प्रकार इस तिलिस्म को खोलूँ, इस रहस्य का उद्घाटन करूँ। जब दोनो अदृश्य हो गए, तो मैं भी उठा, और दबे-पाँव उस गुफा के द्वार तक जा पहुँचा। भय से मेरे शरीर की बोटी-बोटी काँप रही थी, मगर इस रहस्य-पट को खोलने की उत्सुकता भय को दबाए हुए थी। मैंने गुफा के भीतर झाँका, तो क्या देखता हूँ कि पृथ्वी पर ज़री का फ़र्श बिछा हुआ है, और कारचोबी गावतकिए लगे हैं। सिंह मसनद पर गर्व से बैठा हुआ है। सोने-चाँदी के पात्र, सुंदर चित्र, फूलों के गमले, सभी अपने-अपने स्थान पर सजे हुए हैं, और वह गुफा राजभवन को भी लज्जित कर रही है।

द्वार पर मेरी परछाईं देखकर वह सुंदरी बाहर निकल आई, और मुझसे बोली—"यात्री, तू कौन है, और इधर क्योंकर आ निकला?" कितनी मनोहर ध्वनि थी। मैंने अब की बार समीप से देखा, तो सुंदरी का मुख कुम्हलाया हुआ था। उसके नेत्रों से निराशा झलक रही थी, उसके स्वर में भी करुणा और व्यथा की खटक थी। मैंने उत्तर दिया—"देवी, मैं योरप का निवासी हूँ, यहाँ देशाटन करने आया हूँ। मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे आपसे संभाषण करने का गौरव प्राप्त हुआ।" सुंदरी के गुलाब-से होठों पर मधुर मुसकान की झलक दिखाई दी। उसमें कुछ कुटिल हास्य का भी अंश था। कदाचित् यह मेरी इस अस्वाभाविक वाक्यशैली का जवाब था। बोली—"तू विदेश से यहाँ आया है। अतिथि-सत्कार हमारा कर्तव्य है, मैं आज तेरा निमंत्रण करती हूँ, स्वीकार कर।"

मैंने अवसर देखकर उत्तर दिया—"आपकी यह कृपा मेरे लिये गौरव की बात है। पर इस रहस्य ने मेरी भूख-प्यास बंद कर दी है। क्या मैं आशा करूँ कि आप इस पर कुछ प्रकाश डालेंगी?"

सुंदरी ने ठंडी साँस लेकर कहा—"मेरी राम-कहानी विपत्ति की एक बड़ी कथा है, तुझे सुनकर दुःख होगा।" किंतु मैंने जब बहुत आग्रह किया, तो उसने मुझे फ़र्श पर बैठने का संकेत किया, और अपना वृत्तांत सुनाने लगी—

"मैं कश्मीर-देश की रहनेवाली राजकन्या हूँ। मेरा विवाह एक राजपूत योद्धा से हुआ था। उनका नाम नृसिंहदेव था। हम दोनो बड़े आनंद से जीवन व्यतीत करते थे। संसार का सर्वोत्तम पदार्थ रूप है, दूसरा स्वास्थ्य और तीसरा धन। परमात्मा ने हमको ये तीनो ही पदार्थ प्रचुर परिमाण में प्रदान किए थे। खेद है, मैं उनसे तेरी मुलाक़ात नहीं करा सकती। ऐसा साहसी, ऐसा सुंदर, ऐसा विद्वान् पुरुष सारे कश्मीर में न था। मैं उनकी आराधना करती थी। उनका मेरे ऊपर अपार स्नेह था। कई वर्षों तक हमारा जीवन एक जल-स्रोत की भाँति वृक्ष-पुंजों और हरे-हरे मैदानों में प्रवाहित होता रहा।

मेरे पड़ोस में एक मंदिर था। उसके पुजारी एक पंडित श्रीधर थे। हम दोनो प्रातःकाल तथा संध्यासमय उस मंदिर में उपासना के लिये जाते। मेरे स्वामी कृष्ण के भक्त थे। मंदिर एक सुरम्य सागर के तट पर बना हुआ था। वहाँ की शीतल-मंद समीर चित्त को पुलकित कर देती थी। इसीलिये हम उपासना के पश्चात् भी वहाँ घंटों वायु-सेवन करते रहते थे। श्रीधर बड़े विद्वान्, वेदों के ज्ञाता, शास्त्रों के जाननेवाले थे। कृष्ण पर उनकी भी अविरल भक्ति थी। समस्त कश्मीर में उनके पांडित्य की चर्चा थी। वह बड़े संयमी, संतोषी, आत्मज्ञानी पुरुष थे। उनके नेत्रों से शांति की ज्योति-रेखाएँ निकलती हुई मालूम होती थीं। सदैव परोपकार में मग्न रहते। उनकी वाणी ने कभी किसी का हृदय नहीं दुखाया; उनका हृदय नित्य परवेदना से पीड़ित रहता था।

पंडित श्रीधर मेरे पतिदेव से लगभग दस वर्ष बड़े थे, पर उनकी धर्मपत्नी विद्याधरी मेरी ही उम्र की थी। हम दोनो सहेलियाँ थीं। विद्याधरी अत्यंत गंभीर, शांत-प्रकृति स्त्री थी। अपने रंग-रूप का उसे ज़रा भी घमंड न था, अपने पति को वह देवतुल्य समझती थी।

श्रावण का महीना था। आकाश पर काले-काले बादल मँडला रहे थे, मानो काजल के पर्वत उड़े जा रहे हों। झरनों से दूध की धारें निकल रही थीं, और चारो ओर हरियाली छाई हुई थी। नन्ही-नन्ही फुहारें पड़ रही थीं, मानो स्वर्ग से अमृत की बूँदें टपक रही हों। जल की बूँदें फूलों और पत्तियों के गले में चमक रही थीं। चित्त की अभिलाषाओं को उभारनेवाला समा छाया हुआ था। यह वह समय है, जब रमणियों को विदेशगामी प्रियतम की याद रुलाने लगती है, जब विरह की पीड़ा असह्य हो जाती है। इसी ऋतु में माली की कन्या, धानी साड़ी पहनकर, क्यारियों में इठलाती हुई, चंपा और बेले के फूलों से आँचल भरती है, क्योंकि हार और गजरों की माँग बहुत बढ़ जाती है। मैं और विद्याधरी ऊपर छत पर बैठी वर्षा-ऋतु की बहार देख रही थीं, और कालिदास का ऋतुसंहार पढ़ती थीं। इतने में मेरे पति ने आकर कहा—"आज बड़ा सुहावना दिन है। झूला झूलने में बड़ा आनंद आएगा।" सावन में झूला झूलने का प्रस्ताव क्योंकर रद किया जा सकता था। इन दिनों रमणी का चि आप-ही-आप झूला झूलने के लिये विकल हो जाता है। जब वन के वृक्ष झूले झूलते हों, जल की तरंगें झूले झूलती हों, और गगन-मंडल के मेघ झूले झूलते हों, जब सारी प्रकृति आंदोलित हो रही हो, तो रमणी का कोमल हृदय क्यों न चंचल हो जाय! विद्याधरी भी राज़ी हो गई। रेशम की डोरियाँ कदम की डाल पर पड़ गईं,

चंदन का पटरा रख दिया गया, और मैं विद्याधरी के साथ झूला झूलने चली। जिस प्रकार ज्ञानसरोवर पवित्र जल से परिपूर्ण हो रहा है, उसी भाँति हमारे हृदय पवित्र आनंद से परिपूर्ण थे। किंतु शोक! वह कदाचित् मेरे सौभाग्य-चंद्र की अंतिम झलक थी। मैं झूले के पास पहुँचकर पटरे पर जा बैठी, किंतु कोमलांगी विद्याधरी ऊपर न आ सकी। वह कई बार उचकी, परंतु नीचे ही रह गई। तब मेरे पतिदेव ने सहारा देने के लिये उसकी बाँह पकड़ ली। उस समय उनके नेत्रों में एक विचित्र तृष्णा की झलक थी, और मुख पर एक विचित्र आतुरता। वह धीमे स्वरों में मल्हार गा रहे थे। किंतु विद्याधरी जब पटरे पर आई, तो उसका मुख डूबते हुए सूर्य की भाँति लाल और नेत्र अरुण वर्ण हो रहे थे। उसने मेरे पतिदेव की ओर क्रोधोन्मत्त होकर देखा, और बोली—"तूने काम के वश होकर मेरे शरीर में हाथ लगाया है। मैं अपने पातिव्रत के बल से तुझे शाप देती हूँ कि तू इसी क्षण पशु हो जा।"

यह कहते ही विद्याधरी ने अपने गले से रुद्राक्ष की माला निकालकर मेरे पतिदेव के ऊपर फेक दी, और तत्क्षण ही पटरे के समीप मेरे पतिदेव के स्थान पर एक विशाल सिंह दिखाई दिया।

(२)

ऐ मुसाफ़िर, अपने प्रिय पतिदेवता की यह गति देखकर मेरा रक्त सूख गया, और कलेजे पर बिजली-सी आ गिरी। मैं विद्याधरी के पैरों से लिपट गई, और फूट-फूटकर रोने लगी। उस समय अपनी आँखों से देखकर अनुभव हुआ कि पातिव्रत की महिमा कितनी प्रबल है। ऐसी घटनाएँ मैंने पुराणों में पढ़ी थीं, पर मुझे विश्वास न था कि वर्तमान काल में, जब कि स्त्री-पुरुष के संबंध में स्वार्थ की मात्रा दिनों दिन अधिक होती जाती है, पातिव्रत-धर्म में यह प्रभाव होगा। मैं यह नहीं कह सकती कि

विद्याधरी का संदेह कहाँ तक ठीक था। मेरे पति विद्याधरी को सदैव बहन कहकर संबोधित करते थे। वह अत्यंत स्वरूपवान् थे, और रूपवान् पुरुष की स्त्री का जीवन बहुत सुखमय नहीं होता, पर मुझे उन पर संशय करने का अवसर कभी नहीं मिला। वह स्त्रीव्रत-धर्म का वैसा ही पालन करते थे, जैसे सती अपने धर्म का। उनकी दृष्टि में कुचेष्टा न थी, और विचार अत्यंत उज्ज्वल और पवित्र थे, यहाँ तक कि कालिदास की शृंगारमय कविता भी उन्हें प्रिय न थी। मगर काम के मर्मभेदी बाणों से कौन बचा है! जिस काम ने शिव और ब्रह्मा-जैसे तपस्वियों की तपस्या भंग कर दी, जिस काम ने नारद और विश्वामित्र-जैसे ऋषियों के माथे पर कलंक की टीका लगा दी, वह काम सब कुछ कर सकता है। संभव है, सुरा-पान ने उद्दीपक ऋतु के साथ मिलकर उनके चित्त को विचलित कर दिया हो। मेरा गुमान तो यह है कि यह विद्याधरी की केवल भ्रांति थी। जो कुछ भी हो, उसने शाप दे दिया। उस समय मेरे मन में भी उत्तेजना हुई कि जिस शक्ति का विद्याधरी को गर्व है, क्या वह शक्ति मुझ में नहीं? क्या मैं पतिव्रता नहीं हूँ? किंतु हा! मैंने कितना ही चाहा कि शाप के शब्द मुँह से निकालूँ, पर मेरी ज़बान बंद हो गई। वह अखंड विश्वास जो विद्याधरी को अपने पातिव्रत पर था, मुझे न था। विवशता ने मेरे प्रतिकार के आवेग को शांत कर दिया। मैंने बड़ी दीनता के साथ कहा—"बहन, तुमने यह क्या किया?"

विद्याधरी ने निर्दय होकर कहा—"मैंने कुछ नहीं किया, यह उसके कर्मों का फल है।"

मैं—"तुम्हें छोड़कर और किसकी शरण जाऊँ, क्या तुम इतनी दया न करोगी?"

विद्याधरी—"मेरे किए अब कुछ नहीं हो सकता।"

मैं—"देवि, तुम पातिव्रतधारिणी हो, तुम्हारे वाक्य की महिमा अपार है। तुम्हारा क्रोध यदि मनुष्य से पशु बना सकता है, तो क्या तुम्हारी दया पशु से मनुष्य न बना सकेगी ?"

विद्याधरी—"प्रायश्चित्त करो, इसके अतिरिक्त उद्धार का और कोई उपाय नहीं।"

ऐ मुसाफ़िर, मैं राजपूत की कन्या हूँ। मैंने विद्याधरी से अधिक अनुनय-विनय नहीं की। उसका हृदय दया का आगार था। यदि मैं उसके चरणों पर शीश रख देती, तो कदाचित् उसे मुझ पर दया आ जाती। किंतु राजपूत-कन्या इतना अपमान नहीं सह सकती। वह घृणा के घाव सह सकती है, क्रोध की अग्नि सह सकती है, पर दया का बोझ उससे नहीं उठाया जाता। मैंने पटरे से उतरकर पतिदेव के चरणों पर सिर झुकाया, और उन्हें साथ लिए हुए घर चली आई।

(३)

कई महीने गुज़र गए। मैं पतिदेव की सेवा-शुश्रूषा में तन-मन से व्यस्त रहती। यद्यपि उनकी जिह्वा वाणी-विहीन हो गई थी, पर उनकी आकृति से स्पष्ट प्रकट होता था कि वह अपने कर्म से लज्जित थे। रूपांतर हो जाने पर भी उन्हें मांस से अत्यंत घृणा थी। मेरी पशुशाला में सैकड़ों गाएँ-भैंसें थीं, किंतु शेरसिंह ने कभी किसी की ओर आँख उठाकर भी न देखा। मैं उन्हें दोनो बेला दूध पिलाती, और संध्यासमय उन्हें साथ लेकर पहाड़ियों की सैर कराती। मेरे मन में न-जाने क्यों धैर्य और साहस का इतना संचार हो गया था कि मुझे अपनी दशा असह्य न जान पड़ती थी। मुझे निश्चय था कि शीघ्र ही इस विपत्ति का अंत भी होगा।

इन्हीं दिनों हरिद्वार में गंगास्नान का मेला लगा। मेरे नगर से यात्रियों का एक समूह हरिद्वार चला। मैं भी उनके साथ हो ली।

दीन-दुखी जनों को दान देने के लिये रुपए और अशर्फ़ियों की थैलियाँ साथ ले लीं। मैं प्रायश्चित करने जा रही थी, इसीलिये पैदल ही यात्रा करने का निश्चय कर लिया। लगभग एक महीने में हरिद्वार जा पहुँची। यहाँ भारतवर्ष के प्रत्येक प्रांत से असंख्य यात्री आए हुए थे। संन्यासियों और तपस्वियों की संख्या गृहस्थों से कुछ ही कम होगी। धर्मशालाओं में रहने का स्थान न मिलता था। गंगा-तट पर, पर्वतों की गोद में, मैदानों के वक्षःस्थल पर, जहाँ देखिए, आदमी-ही-आदमी नज़र आते थे। दूर से वे छोटे-छोटे खिलौने की भाँति दिखाई देते थे। मीलों तक आदमियों का फ़र्श-सा बिछा हुआ था। भजन और कीर्तन की ध्वनि नित्य कानों में आती रहती थी। हृदय में असीम श्रद्धा, गंगा की लहरों की भाँति, लहरें मारती थी। वहाँ का जल, वायु, आकाश शुद्ध था।

मुझे हरिद्वार आए तीन दिन व्यतीत हुए थे। प्रभात का समय था। मैं गंगा में खड़ी स्नान कर रही थी। सहसा मेरी दृष्टि ऊपर उठी, तो मैंने किसी आदमी को पुल के ऊपर से झाँकते देखा! अकस्मात् उस मनुष्य का पाँव ऊपर उठ गया, और वह सैकड़ों गज़ की ऊँचाई से गंगा में गिर पड़ा। सहस्रों आँखें यह दृश्य देख रही थीं, पर किसी को साहस न हुआ कि उस अभागे मनुष्य की जान बचाए। भारतवर्ष के अतिरिक्त ऐसा सहवेदना-शून्य और कौन देश होगा! और, यह वह देश है, जहाँ परमार्थ मनुष्य का परम कर्तव्य बताया गया है। लोग बैठे हुए अपंगुओं की भाँति तमाशा देख रहे थे। सभी हतबुद्धि-से हो रहे थे। धारा प्रबल वेग से बहती थी, और जल बर्फ़ से भी अधिक शीतल था। मैंने देखा कि वह ग़रीब धारा के साथ बहता चला जाता है। यह हृदय-विदारक दृश्य मुझसे न देखा गया। मैं तैरने में अभ्यस्त थी। मैंने ईश्वर का नाम लिया, और मन को दृढ़ करके धारा के

साथ तैरने लगी। ज्यों-ज्यों मैं आगे बढ़ती थी, वह मनुष्य मुझसे दूर होता जाता था। यहाँ तक कि मेरे सारे अंग ठंड से शून्य हो गए।

मैंने कई बार चट्टानों को पकड़कर दम लिया, कई बार पत्थरों से टकराई। मेरे हाथ ही न उठते थे। सारा शरीर बर्फ़ का ढाँचा-सा बना हुआ था। मेरे अंग ऐसे अशक्त हो गए कि मैं भी धारा के साथ बहने लगी, और मुझे विश्वास हो गया कि गंगामाता के उदर ही में मेरी जल-समाधि होगी। अकस्मात् मैंने उस पुरुष की लाश को एक चट्टान पर रुकते देखा। मेरा हौसला बँध गया। शरीर में एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हुआ। मैं ज़ोर लगाकर प्राणपण से उस चट्टान पर जा पहुँची, और उसका हाथ पकड़कर खींचा। मेरा कलेजा धक से हो गया। यह श्रीधर पंडित थे।

ऐ मुसाफ़िर, मैंने यह काम प्राणों को हथेली पर रखकर पूरा किया। जिस समय मैं पंडित श्रीधर की अर्द्ध-मृत देह लिए तट पर आई, तो सहस्रों मनुष्यों की जय-ध्वनि से आकाश गूँज उठा। कितने ही मनुष्यों ने मेरे चरणों पर सिर झुकाए। अभी लोग श्रीधर को होश में लाने के उपाय कर ही रहे थे कि विद्याधरी मेरे सामने आकर खड़ी हो गई। उसका मुख प्रभात के चंद्र की भाँति कांतिहीन हो रहा था, होंठ सूखे, बाल बिखरे हुए, आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई। वह ज़ोर से हाँफ रही थी, दौड़कर मेरे पैरों से चिमट गई, किंतु दिल खोलकर नहीं, निर्मल भाव से नहीं। उसके मुँह से बात न निकलती थी। केवल इतना बोली—"बहन, ईश्वर तुमको इस सत्कार्य का फल दें।"

(४)

ऐ मुसाफ़िर, यह शुभ कामना विद्याधरी के अंतःस्थल से निकली थी। मैं उसके मुँह से यह आशीर्वाद सुनकर फूली न समाई। मुझे विश्वास हो गया कि अब की बार जब मैं अपने मकान

पर पहुँचूँगी, तो पतिदेव मुस्किराते हुए मुझसे गले मिलने के लिये द्वार पर आवेंगे। इस विचार से मेरे हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी। मैं शीघ्र ही स्वदेश को चल पड़ी। उत्कंठा मेरे क़दम बढ़ाए जाती थी। मैं दिन भी चलती, रात भी चलती, मगर पैर थकना ही न जानते थे। यह आशा कि वह मोहिनी मूर्ति द्वार पर मेरा स्वागत करने के लिये खड़ी होगी, मेरे पैरों में पर-सा लगाए हुए थी। एक महीने की मंज़िल मैंने एक सप्ताह में तय की। पर शोक! जब मकान के पास पहुँची, तो उस घर को देखकर दिल बैठ गया, और हिम्मत न पड़ी कि अंदर क़दम रक्खूँ। मैं चौखट पर बैठकर देर तक विलाप करती रही। न किसी नौकर का पता था, न कहीं पाले हुए पशु ही दिखाई देते थे। द्वार पर धूल उड़ रही थी। जान पड़ता था कि पक्षी घोंसले से उड़ गया है। कलेजे पर पत्थर की सिल रखकर भीतर गई, तो क्या देखती हूँ कि मेरा प्यारा सिंह आँगन में मोटी-मोटी ज़ंजीरों से बँधा हुआ है। इतना दुर्बल हो गया है कि उसके कूल्हों की हड्डियाँ दिखाई दे रही हैं। ऊपर-नीचे जिधर देखती थी, उजाड़-सा मालूम होता था। मुझे देखते ही शेरसिंह ने पूँछ हिलाई, और सहसा उनकी आँखें दीपक की भाँति चमक उठीं। मैं दौड़कर उनके गले से लिपट गई, समझ गई कि नौकरों ने दग़ा की। घर की सामग्रियों का कहीं पता न था। सोने-चाँदी के बहुमूल्य पात्र, फ़र्श आदि सब ग़ायब थे। हाय! हत्यारे मेरे आभूषणों का संदूक़ भी उठा ले गए। इस अपहरण ने मुसीबत का प्याला भर दिया। शायद पहले उन्होंने शेरसिंह को जकड़कर बाँध दिया होगा, फिर ख़ूब दिल खोलकर नोच-खसोट की होगी। कैसी विडंबना थी, धर्म लूटने गई थी, और धन लुटा बैठी! दरिद्रता ने पहली बार अपना भयंकर रूप दिखाया।

ऐ मुसाफ़िर, इस प्रकार लुट जाने के बाद वह स्थान आँखों में काँटे की तरह खटकने लगा। यही वह स्थान था, जहाँ हमने आनंद के दिन काटे थे। इन्हीं क्यारियों में हमने मृगों की भाँति कलोलें की थीं। प्रत्येक वस्तु से कोई-न-कोई स्मृति जाग्रत् हो जाती थी। उन दिनों को याद करके आँखों से रक्त के आँसू बहने लगते थे। वहाँ रहने का ठिकाना न देख मैंने अपनी जन्म-भूमि को सदैव के लिये त्याग दिया। मेरी आँखों से आँसुओं की एक बूँद भी न गिरी। जिस जन्म-भूमि की याद यावज्जीवन हृदय को व्यथित करती रहती है, उससे मैंने यों मुँह मोड़ लिया, मानो कोई बंदी कारागार से मुक्त हो जाय। एक सप्ताह तक मैं चारो ओर भ्रमण करके अपने भावी निवासस्थान का निश्चय करती रही। अंत में सिंधु नदी के किनारे एक निर्जन स्थान मुझे पसंद आया। वहाँ एक प्राचीन मंदिर था। शायद किसी समय में वहाँ देवताओं का वास था, पर इस समय वह बिलकुल उजाड़ था। शनैः-शनैः मुझे उस स्थान से प्रेम हो गया।

मुझे वहाँ रहते तीन वर्ष बीत चुके थे। वर्षा-ऋतु में एक दिन संध्यासमय मुझे मंदिर के सामने से एक पुरुष घोड़े पर सवार जाता दिखाई दिया। मंदिर से प्रायः दो सौ गज़ की दूरी पर एक रमणीक सागर था। उसके किनारे चनार-वृक्षों के झुर-मुट थे। वह सवार उस झुरमुट में जाकर अदृश्य हो गया। अंधकार बढ़ता जाता था। एक क्षण बाद मुझे उस ओर से किसी मनुष्य की चीत्कार सुनाई दी, फिर बंदूकों के शब्द कान में आए। उनकी ध्वनि से पहाड़ गूँज उठा।

ऐ मुसाफ़िर, यह दृश्य देखकर मुझे किसी भीषण घटना का संदेह हुआ। मैं तुरंत उठ खड़ी हुई। एक कटार हाथ में ली, और उस सागर की ओर चल दी।

अब मूसलधार वर्षा होने लगी थी, मानो आज के बाद बादल फिर कभी न बरसेंगे। रह-रहकर गर्जन की ऐसी भयंकर ध्वनि उठती थी, मानो सारे पहाड़ आपस में टकरा गए हों। बिजली की चमक ऐसी तीव्र थी, मानो संसार-व्यापी प्रकाश सिमटकर एकत्र हो गया हो। अंधकार का यह हाल था, मानो सहस्रों अमावास्या की रातें गले मिल रही हों। मैं कमर तक पानी में चलती, दिल को सँभाले हुए, आगे बढ़ती जाती थी। अंत में सागर के समीप आ पहुँची। बिजली की चमक ने दीपक का काम किया। सागर के किनारे एक बड़ी-सी गुफा थी। इस समय उस गुफा में से प्रकाश-ज्योति बाहर आती हुई दिखाई देती थी। मैंने भीतर की ओर झाँका, तो क्या देखती हूँ कि एक बड़ा अलाव जल रहा है, इसके चारो ओर बहुत-से आदमी खड़े हुए हैं, और एक स्त्री आग्नेय नेत्रों से घूर-घूरकर कह रही है—"मैं अपने पति के साथ उसे भी जलाकर भस्म कर दूँगी।" मेरे कुतूहल की सीमा न रही। मैंने साँस बंद कर ली, और हतबुद्धि की भाँति यह कौतुक देखने लगी। उस स्त्री के सामने एक रक्त से लिपटी हुई लाश पड़ी थी, और लाश के समीप ही एक मनुष्य रस्सियों से बँधा हुआ सिर झुकाए बैठा था। मैंने अनुमान किया कि यह वही अश्वारोही पथिक है, जिस पर इन डाकुओं ने आघात किया था। यह शव डाकू सरदार का है; और यह स्त्री डाकू की पत्नी है। उसके सिर के बाल बिखरे हुए थे, और आँखों से अंगारे निकल रहे थे। हमारे चित्रकारों ने क्रोध को पुरुष कल्पित किया है। मेरे विचार में स्त्री का क्रोध इससे कहीं घातक, कहीं विध्वंसकारी होता है। क्रोधोन्मत्त होकर वह कोमलांगी सुंदरी ज्वाल-शिखर बन जाती है।

उस स्त्री ने फिर दाँत पीसकर कहा—"मैं अपने पति के साथ इसे भी जलाकर भस्म कर दूँगी।" यह कहकर उसने उस

रस्सियों से बँधे हुए पुरुष को घसीटा, और दहकती हुई चिता में डाल दिया। आह! कितना भयंकर, कितना रोमांचकारी दृश्य था! स्त्री ही अपने द्वेष की अग्नि शांत करने में इतनी पिशाचिनी हो सकती है! मेरा रक्त खौलने लगा। अब एक क्षण भी विलंब करने का अवसर न था। मैंने कटार खींच ली, और गुफा में घुस पड़ी। डाकू चौंककर तितर-बितर हो गए, समझे, मेरे साथ और लोग भी होंगे। मैं बेधड़क चिता में घुस गई, और क्षण-मात्र में उस अभागे पुरुष को अग्नि के मुख से निकाल लाई। अभी केवल उसके वस्त्र ही जले थे। जैसे सर्प अपना शिकार छिन जाने से फुफकारता हुआ लपकता है, उसी प्रकार गरजती हुई लपटें मेरे पीछे दौड़ीं। ऐसा प्रतीत होता था कि अग्नि भी उसके रक्त की प्यासी हो रही थी।

इतने में डाकू सँभल गए, और आहत सरदार की पत्नी पिशाचिनी की भाँति मुँह खोले मुझ पर झपटी। समीप था कि ये हत्यारे मेरी बोटियाँ कर दें, इतने में गुफा के द्वार पर मेघ-गर्जन की-सी ध्वनि सुनाई दी, और शेरसिंह रौद्र रूप धारण किए हुए भीतर पहुँचे। उनका भयंकर रूप देखते ही डाकू अपनी-अपनी जान लेकर भागे। केवल डाकू सरदार की पत्नी स्तंभित-सी अपने स्थान पर खड़ी रही। एकाएक उसने अपने पति का शव उठाया, और उसे लेकर चिता में बैठ गई। देखते-देखते उसकी भयंकर मूर्ति अग्नि-ज्वाला में विलीन हो गई। अब मैंने उस बँधे हुए मनुष्य की ओर देखा, तो हृदय उछल पड़ा। यह पंडित श्रीधर थे। मुझे देखते ही उन्होंने सिर झुका लिया, और रोने लगे। मैं उनके समाचार पूछ ही रही थी कि उसी गुफा के एक कोने से किसी के कराहने का शब्द सुनाई दिया। जाकर देखा, तो एक सुंदर युवक रक्त से लतपत पड़ा

था। मैंने उसे देखते ही पहचान लिया। उसका पुरुष-वेष उसे छिपा न सका। यह विद्याधरी थी। मर्दों के वस्त्र उस पर ख़ूब सजते थे। वह लज्जा और ग्लानि की मूर्ति बनी हुई थी। वह मेरे पैरों पर गिर पड़ी, पर मुँह से कुछ न बोली।

उस गुफा में पल-भर भी ठहरना अत्यंत शंकाप्रद था। न-जाने कब डाकू फिर सशस्त्र होकर आ जायँ। उधर चिताग्नि भी शांत होने लगी, और उस सती की भीषण काया अत्यंत तेजमय रूप धारण करके हमारे नेत्रों के सामने तांडव-क्रीड़ा करने लगी। मैं बड़ी चिंता में पड़ी कि इन दोनो प्राणियों को कैसे वहाँ से निकालूँ। दोनो ही ज़ख़्मों से चूर थे। शेरसिंह ने मेरे असमंजस को ताड़ लिया। रूपांतर हो जाने के बाद उनकी बुद्धि बड़ी तीव्र हो गई थी। उन्होंने मुझे संकेत किया कि दोनो को हमारी पीठ पर बिठा दो। पहले तो मैं उनका आशय न समझी, पर जब उन्होंने संकेत को बार-बार दुहराया, तो मैं समझ गई। गूँगों के घरवाले ही गूँगों की बातें ख़ूब समझते हैं। मैंने पंडित श्रीधर को गोद में उठाकर शेरसिंह की पीठ पर बिठा दिया। उनके पीछे विद्याधरी को भी बिठाया। नन्हा बालक भालू की पीठ पर बैठकर जितना डरता है, उससे कहीं ज़्यादा ये दोनो प्राणी भयभीत हो रहे थे। चिताग्नि के क्षीण प्रकाश में उनके भय-विकृत मुख देखकर करुण विनोद होता था। मैं इन दोनो प्राणियों को साथ लेकर गुफा से निकली, और फिर उसी तिमिर-सागर को पार करके मंदिर आ पहुँची।

मैंने एक सप्ताह तक उनकी यथाशक्ति सेवा-सत्कार की। जब वे भली भाँति स्वस्थ हो गए, तो मैंने उन्हें बिदा किया। ये स्त्री-पुरुष कई आदमियों के साथ टेढ़ी जा रहे थे। वहाँ के राजा पंडित श्रीधर के शिष्य हैं। पंडित श्रीधर का घोड़ा आगे था। विद्याधरी सवारी का अभ्यास न होने के कारण पीछे थी। उनके दोनो रक्षक भी

उसके साथ थे। जब डाकुओं ने पंडित श्रीधर को घेरा और पंडित ने पिस्तौल से डाकू सरदार को गिराया, तो कोलाहल सुनकर विद्याधरी ने घोड़ा बढ़ाया। दोनो रक्षक तो जान लेकर भागे, विद्याधरी को डाकुओं ने पुरुष समझकर घायल कर दिया, और तब दोनो प्राणियों को बाँधकर गुफा में डाल दिया। शेष बातें मैंने अपनी आँखों देखीं। यद्यपि यहाँ से बिदा होते समय विद्याधरी का रोम-रोम मुझे आशीर्वाद दे रहा था, पर हा! अभी प्रायश्चित्त पूरा न हुआ था। इतना आत्मसमर्पण करके भी मैं सफल-मनोरथ न हुई थी।

(४)

ऐ मुसाफ़िर, इस प्रांत में अब मेरा रहना कठिन हो गया। डाकू बंदूकें लिए हुए शेरसिंह की तलाश में घूमने लगे। विवश होकर एक दिन मैं वहाँ से चल खड़ी हुई, और दुर्गम पर्वतों को पार करती हुई यहाँ आ निकली। यह स्थान मुझे ऐसा पसंद आया कि मैंने इस गुफा को अपना घर बना लिया है। आज पूरे तीन वर्ष गुज़रे जब मैंने पहलेपहल ज्ञानसरोवर के दर्शन किए। उस समय भी यही ऋतु थी। मैं ज्ञानसागर में पानी भरने गई थी। सहसा क्या देखती हूँ कि एक युवक मुश्की घोड़े पर सवार रत्नजड़ित आभूषण पहने, हाथ में चमकता हुआ भाला लिए चला आता है। शेरसिंह को देखकर वह ठिठका और भाला सँभालकर उन पर वार कर बैठा। तब शेरसिंह को भी क्रोध आया। उनकी गरज की ऐसी गगन-भेदी ध्वनि उठी कि ज्ञानसागर का जल आंदोलित हो गया। उन्होंने उसे तुरंत घोड़े से खींचकर उसकी छाती पर पंजे रख दिए। मैं घड़ा छोड़कर दौड़ी। युवक का प्राणांत होनेवाला ही था कि मैंने शेरसिंह के गले में हाथ डाल दिए और उनका सिर सहलाकर क्रोध शांत किया। मैंने उनका ऐसा भयंकर रूप कभी न देखा था। मुझे स्वयं उनके पास जाते हुए डर लगता था, पर मेरे मृदु वचनों ने अंत में उन्हें वशीभूत कर लिया।

वह अलग खड़े हो गए। युवक की छाती में गहरा घाव लगा था। उसे मैंने इसी गुफा में लाकर रक्खा और उसकी मरहम-पट्टी करने लगी।

एक दिन मैं कुछ आवश्यक वस्तुएँ लेने के लिये उस क़स्बे में गई, जिसके मंदिर के कलश यहाँ से दिखाई दे रहे हैं। मगर वहाँ सब दूकानें बंद थीं। बाज़ारों में ख़ाक उड़ रही थी। चारों ओर सियापा-सा छाया हुआ था। मैं बहुत देर तक इधर-उधर घूमती रही, किसी मनुष्य की सूरत भी न दिखाई दी कि उससे वहाँ का सब समाचार पूछूँ। ऐसा विदित होता था, मानो यह अदृश्य जीवों की बस्ती है। सोच ही रही थी कि वापस चलूँ कि घोड़ों के टापों की ध्वनि कानों में आई, और एक क्षण में एक स्त्री, सिर से पैर तक काले वस्त्र धारण किए, एक काले घोड़े पर सवार आती हुई दिखाई दी। उसके पीछे कई सवार और प्यादे काली वर्दियाँ पहने आ रहे थे। अकस्मात् उस सवार स्त्री की दृष्टि मुझ पर पड़ी। उसने घोड़े को एक एड़ लगाई, और मेरे निकट आकर कर्कश स्वर में बोली—"तू कौन है?" मैंने निर्भीक भाव से उत्तर दिया—"मैं ज्ञानसरोवर के तट पर रहती हूँ। यहाँ बाज़ार में कुछ सामग्रियाँ लेने आई थी, किंतु शहर में किसी का पता नहीं।" उस स्त्री ने पीछे की ओर देखकर कुछ संकेत किया, जिस पर दो सवारों ने आगे बढ़कर मुझे पकड़ लिया, और मेरी बाँहों में रस्सियाँ डाल दीं। मेरी समझ में न आता था कि मुझे किस अपराध का दंड दिया जा रहा है। बहुत पूछने पर भी किसी ने मेरे प्रश्नों का उत्तर न दिया। हाँ, अनुमान से यह प्रकट हुआ कि यह स्त्री यहाँ की रानी है। मुझे अपने विषय में तो कोई चिंता न थी, पर चिंता थी शेरसिंह की। वह अकेले घबरा रहे होंगे। भोजन का समय आ पहुँचा, कौन खिलावेगा? किस विपत्ति में आ फँसी! नहीं मालूम, विधाता अब मेरी क्या दुर्गति करेंगे! मुझ अभागिन को इस दशा

में भी शांति नहीं। इन्हीं मलिन विचारों में मग्न मैं सवारों के साथ आध घंटे तक चलती रही कि सामने एक ऊँचा पहाड़ी पर एक विशाल भवन दिखाई दिया। ऊपर चढ़ने के लिये पत्थर काटकर चौड़े ज़ीने बनाए गए थे। हम लोग ऊपर चढ़े। वहाँ सैकड़ों ही आदमी दिखाई दिए। किंतु सब-के-सब काले वस्त्र धारण किए हुए थे। मैं जिस कमरे में लाकर रक्खी गई, वहाँ एक कुशासन के अतिरिक्त सजावट का और कोई सामान न था। मैं ज़मीन पर बैठकर अपने नसीब को रोने लगी। जो कोई यहाँ आता था, मुझ पर करुण दृष्टिपात करके चुपचाप चला जाता था। थोड़ी देर में रानी साहबा आकर उसी कुशासन पर बैठ गईं। यद्यपि उनकी अवस्था पचास वर्ष से अधिक थी, पर मुख पर अद्भुत कांति थी। मैंने अपने स्थान से उठकर उनका सम्मान किया, और हाथ बाँधकर अपनी क़िस्मत का फ़ैसला सुनने के लिये खड़ी हो गई।

(६)

ऐ मुसाफ़िर, रानी महोदया की त्योरियाँ देखकर पहले तो मेरे प्राण सूख गए, किंतु जिस प्रकार चंदन-जैसी कठोर वस्तु में मनोहर सुगंध छिपी होती है, उसी प्रकार उनकी कर्कशता और कठोरता के नीचे मोम के सदृश हृदय छिपा हुआ था। उनका पुत्र थोड़े ही दिन पहले युवावस्था ही में दग़ा दे गया था। उसी के शोक में सारा शहर मातम मना रहा था। मेरे पकड़े जाने का कारण यह था कि मैंने काले वस्त्र क्यों न धारण किए थे। यह वृत्तांत सुनकर मैं समझ गई कि जिस राजकुमार का शोक मनाया जा रहा है, वह वही युवक है, जो मेरी गुफा में पड़ा हुआ है। मैंने उनसे पूछा—"राजकुमार मुश्की घोड़े पर तो सवार नहीं थे?"

रानी—"हाँ-हाँ, मुश्की घोड़ा था। उसे मैंने उनके लिये अरब-देश से मँगवा दिया था। क्या तूने उन्हें देखा है?

मैं—"हाँ, देखा है।"

रानी ने पूछा—"कब?"

मैं—"जिस दिन वह शेर का शिकार खेलने गए थे।"

रानी—"क्या तेरे सामने ही शेर ने उन पर चोट की थी?"

मैं—"हाँ, मेरी आँखों के सामने।"

रानी उत्सुक होकर खड़ी हो गईं, और बड़े दीन-भाव से बोलीं—"तू उनकी लाश का पता लगा सकती है?"

मैं—"ऐसा न कहिए, वह अमर हों। वह दो सप्ताहों से मेरे यहाँ मेहमान हैं।"

रानी हर्षमय आश्चर्य से बोलीं—"मेरा रणधीर जीवित है?"

मैं—"हाँ, अब उनमें चलने-फिरने की शक्ति आ गई है।"

रानी मेरे पैरों पर गिर पड़ीं!

तीसरे दिन अर्जुननगर की कुछ और ही शोभा थी। वायु आनंद के मधुर स्वर से गूँजती थी, दूकानों ने फूलों का हार पहना था, बाज़ारों में आनंद के उत्सव मनाए जा रहे थे। शोक के नीले वस्त्रों की जगह केशर का सुहावना रंग बधाई दे रहा था। इधर सूर्य ने ऊषा-सागर से सिर निकाला, उधर सलामियाँ दगनी आरंभ हुईं। आगे-आगे मैं एक सब्ज़ घोड़े पर सवार आ रही थी, और पीछे राजकुमार का हाथी, सुनहरे झूलों से सजा, चला आता था। स्त्रियाँ अटारियों पर मंगल के गीत गाती और पुष्पों की वृष्टि करती थीं। राजभवन के द्वार पर रानी मोतियों से आँचल भरे खड़ी थीं। ज्यों ही राजकुमार हाथी से उतरे, वह उन्हें गोद में लेने के लिये दौड़ीं, और उन्हें छाती से लगा लिया।

(७)

ऐ मुसाफ़िर, आनंदोत्सव समाप्त होने पर जब मैं विदा होने लगी, तो रानी महोदया ने सजल-नयन होकर कहा—"बेटी,

तूने मेरे साथ जो उपकार किया है, उसका फल तुझे भगवान् देंगे। तूने मेरे राज्यवंश का उद्धार कर दिया, नहीं तो कोई पितरों को जल देनेवाला भी न रहता। मैं तुझे कुछ बिदाई देना चाहती हूँ, वह तुझे स्वीकार करनी पड़ेगी। अगर रणधीर मेरा पुत्र है, तो तू मेरी पुत्री है। तूने ही रणधीर को प्राण-दान दिया है, तूने ही इस राज्य का पुनरुद्धार किया है। इसलिये इस माया-बंधन से तेरा गला नहीं छूटेगा। मैं अर्जुननगर का प्रांत उपहार-स्वरूप तेरी भेंट करती हूँ।"

रानी की यह असीम उदारता देखकर मैं दंग रह गई। कलियुग में भी कोई ऐसा दानी हो सकता है, इसकी मुझे आशा न थी। यद्यपि मुझे धन-भोग की लालसा न थी, पर केवल इस विचार से कि कदाचित् यह संपत्ति मुझे अपने भाइयों की सेवा करने की सामर्थ्य दे, मैंने एक जागीरदार की ज़िम्मेदारियाँ अपने सिर लीं। तब से दो वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, पर भोग-विलास ने मेरे मन को एक क्षण के लिये भी चंचल नहीं किया। मैं कभी पलँग पर नहीं सोई। रूखी-सूखी वस्तुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाया। पति-वियोग की दशा में स्त्री तपस्विनी हो जाती है, उसकी वासनाओं का अंत हो जाता है। मेरे पास कई विशाल भवन हैं, कई रमणीक वाटिकाएँ हैं; विषय-वासना की ऐसी कोई सामग्री नहीं, जो प्रचुर मात्रा में उपस्थित न हो, पर मेरे लिये वे सब त्याज्य हैं। भवन सूने पड़े हैं, और वाटिकाओं में खोजने से भी हरियाली न मिलेगी। मैंने उनकी ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा। अपने प्राणाधार के चरणों से लगे हुए मुझे अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं। मैं नित्यप्रति अर्जुननगर जाती हूँ, और रियासत के आवश्यक काम-काज करके लौट आती हूँ। नौकर-चाकरों को कड़ी आज्ञा दे दी गई है कि मेरी शांति में बाधक न हों। रियासत की संपूर्ण आय परोपकार में व्यय होती है। मैं उसकी कौड़ी भी अपने

ख़र्च में नहीं लाती। आपको अवकाश हो, तो आप मेरी रियासत का प्रबंध देखकर बहुत प्रसन्न होंगे। मैंने इन दो वर्षों में बीस बड़े-बड़े तालाब और चालीस गोशाले बनवा दिए हैं। मेरा विचार है कि अपनी रियासत में नहरों का ऐसा जाल बिछा दूँ, जैसे शरीर में नाड़ियों का है। मैंने एक सौ कुशल वैद्य नियुक्त कर दिए हैं, जो ग्रामों में विचरण करके रोग की निवृत्ति करें। मेरा कोई ऐसा ग्राम नहीं, जहाँ मेरी ओर से सफ़ाई का प्रबंध न हो। छोटे-छोटे गाँवों में भी आपको लालटेनें जलती हुई मिलेंगी। दिन का प्रकाश ईश्वर देता है, रात के प्रकाश की व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य है। मैंने सारा प्रबंध पंडित श्रीधर के हाथों में दे दिया है। सबसे प्रथम कार्य जो मैंने किया, वह उन्हें ढूँढ़ निकालना और यह भार उनके सिर रख देना था, इस विचार से नहीं कि उनका सम्मान करना मेरा अभीष्ट था, बल्कि मेरी दृष्टि में कोई अन्य पुरुष ऐसा कर्तव्य-परायण, ऐसा निःस्पृह और ऐसा सच्चरित्र न था। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह यावज्जीवन रियासत की बागडोर अपने हाथ में रक्खेंगे। विद्याधरी भी उनके साथ है, वही शांति और संतोष की मूर्ति, वही धर्म और व्रत की देवी। उसका पातिव्रत अब भी ज्ञानसरोवर की भाँति अपार और अथाह है। यद्यपि उसका सौंदर्य-सूर्य अब मध्याह्न पर नहीं, पर अब भी वह रनिवास की रानी जान पड़ती है। चिंताओं ने उसके मुख पर शिकन डाल दिए हैं। हम दोनो कभी-कभी मिल जाती हैं, किंतु बातचीत की नौबत नहीं आती। उसकी आँखें झुक जाती हैं। मुझे देखते ही उसके ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, और उसके माथे पर जलबिंदु दिखाई देने लगते हैं। मैं आपसे सत्य कहती हूँ कि मुझे विद्याधरी से कोई शिकायत नहीं। उसके प्रति मेरे मन में दिनोंदिन श्रद्धा और भक्ति बढ़ती जाती है। उसे देखती हूँ, तो मुझे प्रबल उत्कंठा होती है कि उसके

पैरों पर गिर पड़ूँ। पतिव्रता स्त्री के दर्शन बड़े सौभाग्य से मिलते हैं, पर केवल इस भय से कि कदाचित् वह इसे ख़ुशामद समझे, रुक जाती हूँ। अब मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि अपने स्वामी के चरणों में पड़ी रहूँ, और जब इस संसार से प्रस्थान करने का समय आवे, तो मेरा मस्तक उनके चरणों पर हो, और अंतिम शब्द, जो मेरे मुँह से निकलें, ये ही हों कि—"ईश्वर, दूसरे जन्म में भी मुझे इनकी चेरी बनाना।"

पाठक, उस सुंदरी का जीवन-वृत्तांत सुनकर मुझे जितना कुतूहल हुआ, वह अकथनीय है। खेद है, जिस जाति में ऐसी प्रतिभाशालिनी देवियाँ उत्पन्न हों, उस पर पाश्चात्य के कल्पना हीन, विश्वासहीन पुरुष उँगलियाँ उठावें! समस्त योरप में एक भी ऐसी सुंदरी न होगी, जिससे इसकी तुलना की जा सके। हमने स्त्री-पुरुष के संबंध को सांसारिक संबंध समझ रक्खा है। उसका आध्यात्मिक रूप हमारे विचार से कोसों दूर है। यही कारण है कि हमारे देश में शताब्दियों की उन्नति के पश्चात् भी पातिव्रत का ऐसा उज्ज्वल और अलौकिक उदाहरण नहीं मिल सकता। दुर्भाग्य से हमारी सभ्यता ने ऐसा मार्ग ग्रहण किया है कि कदाचित् दूर-भविष्य में भी ऐसी देवियों के जन्म लेने की संभावना नहीं। जर्मनी को यदि अपनी सेना पर, फ़्रांस को अपनी विलासिता पर और इँग-लैंड को अपने वाणिज्य पर गर्व है, तो भारतवर्ष को अपने पाति-व्रत का घमंड है। क्या योरप-निवासियों के लिये यह लज्जा की बात नहीं कि होमर और वर्जिल, डैंटे और गेटी, शेक्सपियर और ह्यूगो-जैसे उच्च कोटि के कवि एक भी सीता या सावित्री की रचना न कर सकें। वास्तव में योरपीय समाज ऐसे आदर्शों से वंचित है!

मैंने दूसरे दिन ज्ञानसरोवर से बड़ी अनिच्छा के साथ बिदा माँगी, और योरप को चला। मेरे लौटने का समाचार पहले ही प्रका-

शित हो चुका था। जब मेरा जहाज़ हैंपवर्ग के बंदर में पहुँचा, तो सहस्रों नर-नारी मेरा अभिवादन करने के लिये खड़े थे। मुझे देखते ही तालियाँ बजने लगीं, रूमाल और टोप हवा में उछलने लगे, और वहाँ से मेरे घर तक जिस समारोह से मेरा जलूस निकला, उस पर किसी राष्ट्र-पति को भी गर्व हो सकता है। संध्या-समय मुझे क़ैसर की मेज़ पर भोजन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कई दिनों तक अभिनंदन-पत्रों का ताँता लगा रहा, और महीनों क्लब और युनिवर्सिटी की फ़र्माइशों से दम मारने का अवकाश न मिला। मेरा यात्रा-वृत्तांत देश के प्रायःसभी पत्रों में छपा। अन्य देशों से भी बधाई के तार और पत्र मिले। फ्रांस, रूस आदि देशों की कितनी ही सभाओं ने मुझे व्याख्यान देने के लिये निमंत्रित किया। एक-एक वक्तृता के लिये मुझे कई-कई हज़ार पौंड दिए जाते थे। कई विद्यालयों ने मुझे उपाधियाँ दीं। ज़ार ने अपना आटोग्राफ़ भेजकर सम्मानित किया, किंतु इन आदर और सम्मान की आँधियों से मेरे चित्त को शांति न मिलती थी, और ज्ञानसागर का सुरम्य तट, वह गहरी गुफा और वह मृदुभाषिणी रमणी सदैव आँखों के सामने फिरते रहते थे। रमणी के मधुर शब्द कानों में गूँजा करते। मैं थिएटरों में जाता, और स्पेन और जार्जिया की सुंदरियों को देखता, किंतु हिमालय की अप्सरा मेरे ध्यान से न उतरती। कभी-कभी कल्पना में मुझे वह देवी आकाश से उतरती हुई मालूम होती। तब चित्त चंचल हो जाता, और विकल उत्कंठा होती कि किसी तरह पर लगाकर ज्ञानसागर के तट पर पहुँच जाऊँ। आख़िर एक रोज़ मैंने सफ़र का सामान दुरुस्त किया, और उस मिती के ठीक एक हज़ार दिनों के बाद, जब मैंने पहली बार ज्ञानसागर के तट पर क़दम रक्खा था, मैं फिर वहाँ जा पहुँचा।

प्रभात का समय था। गिरिराज सुनहरा मुकुट पहने खड़े थे। मंद समीर के आनंदमय झोंकों से ज्ञानसागर का जल निर्मल प्रकाश से प्रतिबिंबित होकर ऐसा लहरा रहा था, मानो अगणित अप्सराएँ, आभूषणों से जगमगाती हुई, नृत्य कर रही हों। लहरों के साथ शतदल यों झकोरे लेते थे, जैसे कोई बालक हिंडोले में झूल रहा हो। फूलों के बीच में श्वेत हंस तैरते हुए ऐसे मालूम होते थे, मानो लालिमा से छाए हुए आकाश पर तारागण चमक रहे हों। मैंने उत्सुक नेत्रों से इस गुफा की ओर देखा, तो वहाँ एक विशाल राजप्रासाद आसमान से कंधा मिलाए खड़ा था। एक ओर रमणीक उपवन था, दूसरी ओर एक गगन-चुंबी मंदिर। मुझे यह कायापलट देखकर आश्चर्य हुआ। मुख्य द्वार पर जाकर देखा, तो दो चोबदार ऊदे मख़मल की वर्दियाँ पहने, ज़री के पट्टी बाँधे खड़े थे। मैंने उनसे पूछा—"क्यों भाई, यह किसका महल है?"

चोबदार—"अर्जुननगर की महारानी का।"

मैं—"क्या अभी हाल ही में बना है?"

चोबदार—"हाँ, तुम कौन हो?"

मैं—"एक परदेशी यात्री हूँ। क्या तुम महारानी को मेरी सूचना दे दोगे?"

चोबदार—"तुम्हारा क्या नाम है, और कहाँ से आते हो?"

मैं—"उनसे केवल इतना कह देना कि योरप से एक यात्री आया है, और आपके दर्शन करना चाहता है।"

चोबदार भीतर चला गया, और एक क्षण के बाद आकर बोला—"मेरे साथ आओ।"

मैं उसके साथ हो लिया। पहले एक लंबी दालान मिली, जिसमें भाँति-भाँति के पक्षी, पिंजरों में बैठे, चहक रहे थे। इसके

बाद एक विस्तृत बारहदरी में पहुँचा, जो संपूर्णतः पाषाण की बनी हुई थी। मैंने ऐसी सुंदर गुलकारी ताजमहल के अतिरिक्त और कहीं नहीं देखी। फ़र्श की पच्चीकारी को देखकर उस पर पाँव धरते संकोच होता था। दीवारों पर निपुण चित्रकारों की रचनाएँ शोभायमान थीं। बारहदरी के दूसरे सिरे पर एक चबूतरा था, जिस पर मोटी क़ालीनें बिछी हुई थीं। मैं फ़र्श पर बैठ गया। इतने में एक लंबे क़द का रूपवान् पुरुष अंदर आता हुआ दिखाई दिया। उसके मुख पर प्रतिभा की ज्योति झलक रही थी, और आँखों से गर्व टपका पड़ता था। उसकी काली और भाले की नोक के सदृश तनी हुई मूँछें, उसके भौंरे की तरह काले घुँघराले बाल उसकी आकृति की कठोरता को नम्र कर देते थे। विनय-पूर्ण वीरता का इससे सुंदर चित्र नहीं खिंच सकता था। उसने मेरी ओर देखकर मुस्किराते हुए कहा—"आप मुझे पहचानते हैं ?" मैं अदब से खड़ा होकर बोला—"मुझे आपसे परिचय का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ।" वह क़ालीन पर बैठ गया, और बोला—"मैं शेरसिंह हूँ।" मैं अवाक् रह गया। शेरसिंह ने फिर कहा—"क्या आप प्रसन्न नहीं हैं कि आपने मुझे पिस्तौल का लक्ष्य नहीं बनाया। मैं तब पशु था, अब मनुष्य हूँ।" मैंने विस्मित होकर कहा—"आपको इस रूप में देखकर मुझे जितना आनंद हो रहा है, प्रकट नहीं कर सकता। यदि आज्ञा हो, तो आपसे एक प्रश्न करूँ।"

शेरसिंह ने मुस्किराकर कहा—"मैं समझ गया, पूछिए।"

मैं—"जब आप समझ ही गए, तो मैं पूछूँ क्यों ?"

शेरसिंह—"संभव है, मेरा अनुमान ठीक न हो।"

मैं—"मुझे भय है कि उस प्रश्न से आपको दुःख न हो।"

शेरसिंह—"कम-से-कम आपको मुझसे ऐसी शंका न करनी चाहिए।"

मैं—"विद्याधरी के भ्रम में कुछ सार था ?"

शेरसिंह ने सिर झुकाकर कुछ देर में उत्तर दिया—"जी हाँ, था। जिस वक्त मैंने उसकी कलाई पकड़ी थी, उस समय आवेश से मेरा एक-एक अंग काँप रहा था। मैंने क्या किया, यह तो याद नहीं, केवल इतना जानता हूँ कि मैं उस समय अपने होश में न था। मेरी पत्नी ने मेरे उद्धार के लिये बड़ी-बड़ी तपस्याएँ कीं, किंतु अभी तक मुझे अपनी ग्लानि से निवृत्ति नहीं हुई। संसार की कोई वस्तु स्थिर नहीं, किंतु पाप की कालिमा अमर और अमिट है। यश और कीर्ति कालांतर में मिट जाती है, किंतु पाप का धब्बा नहीं मिटता। मेरा विचार है कि ईश्वर भी उस दाग़ को नहीं मिटा सकता। कोई तपस्या, कोई दंड, कोई प्रायश्चित्त इस कालिमा को नहीं धो सकता। पतितोद्धार की कथाएँ और तौबा या कंफ़ेशन करके पाप से मुक्त हो जाने की बात, ये सब संसार-लिप्सी पाखंडी धर्मावलंबियों की कल्पनाएँ हैं।"

हम दोनो ये ही बातें कर रहे थे कि रानी प्रियंवदा सामने आकर खड़ी हो गई। मुझे आज वह अनुभव हुआ, जो बहुत दिनों से पुस्तकों में पढ़ा करता था कि सौंदर्य में प्रकाश होता है। आज इसकी सत्यता मैंने अपनी आँखों देखी। मैंने जब उन्हें पहले देखा था, तो निश्चय किया था कि यह ईश्वरीय कला-नैपुण्य की परा काष्ठा है, पर अब, जब मैंने उसे दुबारा देखा, तो ज्ञात हुआ कि वह इस असल की नक़ल थी। प्रियंवदा ने मुस्किराकर कहा—"मुसाफ़िर, तुझे स्वदेश में भी कभी हम लोगों की याद आई थी ?"

अगर मैं चित्रकार होता, तो उसके मधुर हास्य को चित्रित करके प्राचीन गुणियों को चकित कर देता। उसके मुँह से यह प्रश्न सुनने के लिये मैं तैयार न था। यदि उसके उत्तर में मन के भाव-

रिक भावों को प्रकट कर देता, तो शायद मेरी धृष्टता होती, और शेरसिंह की त्योरियाँ बदल जातीं। मैं यह भी न कह सका कि मेरे जीवन का सबसे सुखद भाग वही था, जो ज्ञान-सरोवर के तट पर व्यतीत हुआ था। किंतु मुझे इतना साहस भी न हुआ। मैंने दबी ज़बान से कहा—"क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ?"

(८)

तीन दिन बीत गए। इन तीन दिनों में ख़ूब मालूम हो गया कि पूर्व को आतिथ्य-कुशल क्यों कहते हैं। योरप का कोई दूसरा मनुष्य, जो यहाँ की सभ्यता से परिचित न हो, इन सत्कारों से ऊब जाता। किंतु मुझे इन देशों के रहन-सहन का बहुत अनुभव हो चुका है, और मैं इसका आदर करता हूँ।

चौथे दिन मेरी विनय पर रानी प्रियंवदा ने अपनी शेष कथा सुनानी शुरू की—ऐ मुसाफ़िर, मैंने तुझसे कहा था कि अपनी रियासत का शासन-भार मैंने श्रीधर पर रख दिया था, और जितनी योग्यता और दूरदर्शिता से उन्होंने इस काम को सँभाला है, उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। ऐसा बहुत कम हुआ है कि एक विद्वान् पंडित, जिसका सारा जीवन पठन-पाठन में व्यतीत हुआ हो, एक रियासत का बोझ सँभाले। किंतु राजा बीरबल की भाँति पं० श्रीधर भी सब कुछ कर सकते हैं। मैंने परीक्षार्थ उन्हें यह काम सौंपा था। अनुभव ने सिद्ध कर दिया कि वह इस कार्य के सर्वथा योग्य हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानो कुल-परंपरा ने उन्हें इस काम में अभ्यस्त कर दिया है। जिस समय उन्होंने इसका काम अपने हाथ में लिया, यह रियासत एक ऊजड़ ग्राम के सदृश थी। अब वह धन-धान्य-पूर्ण एक नगर है। शासन का कोई ऐसा विभाग नहीं, जिस पर उनकी सूक्ष्म दृष्टि न पहुँची हो।

थोड़े ही दिनों में लोग उनके शील-स्वभाव पर मुग्ध हो गए। राजा रणधीरसिंह भी उन पर कृपा-दृष्टि रखने लगे। पंडितजी पहले शहर से बाहर एक ठाकुरद्वारे में रहते थे, किंतु जब राजा साहब से मेल-जोल बढ़ा, तो उनके आग्रह से विवश होकर राज-महल में चले आए। यहाँ तक परस्पर मैत्री और घनिष्ठता बढ़ी कि मान-प्रतिष्ठा का विचार भी जाता रहा। राजा साहब पंडितजी से संस्कृत भी पढ़ते थे। उनके समय का अधिकांश पंडितजी के मकान पर ही कटता था। किंतु शोक! यह विद्या-प्रेम था शुद्ध मित्र-भाव का आकर्षण न था। यह सौंदर्य का आकर्षण था। यदि उस समय मुझे लेश-मात्र भी संदेह होता कि रणधीरसिंह की यह घनिष्ठता कुछ और ही पहलू लिए हुए है, तो उसका अंत इतना खेद-जनक न होता, जितना कि हुआ। उनकी दृष्टि विद्याधरी पर उस समय पड़ी, जब वह ठाकुरद्वारे में रहती थी। राजा साहब स्वभावतः बड़े ही सच्चरित्र और संयमी पुरुष हैं, किंतु जिस रूप ने मेरे पति-जैसे देव-पुरुष का ईमान डिगा दिया, वह सब कुछ कर सकता है।

भोलीभाली विद्याधरी मनोविकारों की इस कुटिल नीति से बे-ख़बर थी। जिस प्रकार छलाँगें मारता हुआ हिरन व्याध की फैलाई हुई हरी-हरी घास देखकर उस ओर बढ़ता है, और यह नहीं समझता कि प्रत्येक पग मुझे सर्वनाश की ओर लिए जाता है, उसी भाँति विद्याधरी को उसका चंचल मन अंधकार की ओर खींचे लिए जाता था। वह राजा साहब के लिये अपने हाथ से बीड़े लगा-कर भेजती, पूजा के लिये चंदन रगड़ती। रानीजी से भी उसका बहनापा हो गया। वह एक क्षण के लिये भी उसे अपने पास से न जाने देतीं। दोनो साथ-साथ बाग़ की सैर करतीं, साथ-साथ झूला झूलतीं, साथ-साथ चौपड़ खेलतीं। यह उनका शृंगार करती, और वह इसकी माँग-चोटी सँवारतीं, मानो विद्याधरी ने रानी के हृदय में

वह स्थान प्राप्त कर लिया, जो किसी समय मुझे प्राप्त था। लेकिन वह ग़रीब क्या जानती थी कि जब मैं बाग़ की रविशों में विचरती हूँ, तो कुवासना मेरे तलवे के नीचे आँखें बिछाती है; जब मैं झूला झूलती हूँ, तो वह आड़ में बैठी हुई आनंद से झूमती है। इस एक सरल-हृदय अबला स्त्री के लिये चारो ओर से चक्रव्यूह रचा जा रहा था।

इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। राजा साहब का रब्त-ज़ब्त दिनों-दिन बढ़ता जाता था। पंडितजी को उनसे वह स्नेह हो गया, जो गुरु को अपने एक होनहार शिष्य से होता है। मैंने जब देखा कि आठों पहर का यह सहवास पंडितजी के काम में विघ्न डालता है, तो एक दिन मैंने उनसे कहा, यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो दूरस्थ देहातों का दौरा आरंभ कर दें, और इस बात का पता लगावें कि देहातों में कृषकों के लिये बैंक खोलने में हमें प्रजा से कितनी सहानुभूति और कितनी सहायता की आशा करनी चाहिए। पंडित-जी के मन की बात नहीं जानती, पर प्रत्यक्ष उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। दूसरे ही दिन प्रातःकाल चले गए। किंतु आश्चर्य है कि विद्याधरी उनके साथ न गई। अब तक पंडितजी जहाँ कहीं जाते थे, विद्याधरी परछाईं की भाँति उनके साथ रहती थी। असुविधा या कष्ट का विचार भी उसके मन में न आता था। पंडितजी कितना ही समझाएँ, कितना ही डराएँ, वह उनका साथ न छोड़ती थी। पर अब की बार कष्ट के विचार ने उसे कर्तव्य के मार्ग से विमुख कर दिया। पहले उसका पातिव्रत एक वृक्ष था, जो उसके प्रेम की क्यारी में अकेला खड़ा था, किंतु अब उसी क्यारी में मैत्री की घास-पात निकल आई थी, जिसका पोषण भी उसी भोजन पर अवलंबित था।

(६)

ऐ मुसाफ़िर, छ महीने गुज़र गए, और पंडित श्रीधर वापस न आए। पहाड़ों की चोटियों पर छाया हुआ हिम घुल-घुलकर नदियों

में बहने लगा, उनकी गोद में फिर रंग-बिरंग के फूल लहलहाने लगे, चंद्रमा की किरणें फिर फूलों की महक सूँघने लगीं, पर्वतों के पक्षी अपनी वार्षिक यात्रा समाप्त कर फिर स्वदेश आ पहुँचे, किंतु पंडित-जी रियासत के कामों में ऐसे उलझे कि मेरे निरंतर आग्रह करने पर भी अर्जुननगर न आए। विद्याधरी की ओर से वह इतने उदासीन क्यों हुए, समझ में नहीं आता था। उन्हें तो उसका वियोग एक क्षण के लिये भी असह्य था। किंतु इससे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि विद्याधरी ने भी आग्रह-पूर्ण पत्रों के लिखने के अतिरिक्त उनके पास जाने का कष्ट न उठाया। वह अपने पत्रों में लिखती—"स्वामीजी, मैं बहुत व्याकुल हूँ, यहाँ मेरा जी ज़रा भी नहीं लगता, एक-एक दिन एक-एक वर्ष के समान जाता है, न दिन को चैन है, न रात को नींद। क्या आप मुझे भूल गए? मुझसे कौन-सा अपराध हुआ? क्या आपको मुझ पर दया भी नहीं आती? मैं आपके वियोग में रो-रोकर मरी जाती हूँ। नित्य स्वप्न देखती हूँ कि आप आ रहे हैं, पर यह स्वप्न कभी सच्चा नहीं होता।" उसके पत्र ऐसे ही प्रेम-मय शब्दों से भरे होते थे, और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जो कुछ वह लिखती थी, वह भी अक्षरशः सत्य था। मगर इतनी व्याकुलता, इतनी चिंता और इतनी उद्विग्नता पर भी उसके मन में कभी यह प्रश्न न उठा कि क्यों न मैं ही उनके पास चली चलूँ।

बहुत ही सुहावनी ऋतु थी। ज्ञानसागर में यौवन-काल की अभिलाषाओं की भाँति कमल के फूल खिले हुए थे। राजा रणधीर-सिंह की पचीसवीं जयंती का शुभ मुहूर्त आया। सारे नगर में आनंदोत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। गृहिणियाँ कोरे-कोरे दीपक पानी में भिगोने लगीं कि अधिक तेल न सोख जायँ। चैत की पूर्णिमा थी, किंतु दीपक की जगमगाहट ने ज्योत्स्ना को मात कर दिया था।

मैंने राजा साहब के लिये इस्फ़हान से एक रत्न-जड़ित तलवार मँगा रक्खी थी। दरबार के अन्य जागीरदारों और अधिकारियों ने भी भाँति-भाँति के उपहार मँगा रक्खे थे। मैंने विद्याधरी के घर जाकर देखा, तो वह एक पुष्प-हार गूँथ रही थी। मैं आध घंटे तक उसके सम्मुख खड़ी रही, किंतु वह अपने काम में इतनी व्यस्त थी कि उसे मेरी आहट भी न मिली। तब मैंने धीरे से पुकारा—"बहन!" विद्याधरी ने चौंककर सिर उठाया, और बड़ी शीघ्रता से वह हार फूल की डाली में छिपा, लज्जित होकर बोली—"क्या तुम देर से खड़ी हो?" मैंने उत्तर दिया—"आध घंटे से अधिक हुआ।"

विद्याधरी के चेहरे का रंग उड़ गया, आँखें झुक गईं, कुछ हिचकिचाई, कुछ घबराई। फिर अपने अपराधी हृदय को इन शब्दों से शांत किया—'यह हार मैंने ठाकुरजी के लिये गूँथा है।" उस समय विद्याधरी की घबराहट का भेद मैं कुछ न समझी। ठाकुरजी के लिये हार गूँथना क्या कोई लज्जा की बात है? फिर जब वह हार मेरी नज़रों से छिपा दिया गया, तो उसका ज़िक्र ही क्या? हम दोनो ने कितनी ही बार साथ बैठकर हार गूँथे थे। कोई निपुण मालिन भी हमसे अच्छे हार न गूँथ सकती थी। मगर इसमें शर्म क्या? दूसरे दिन यह रहस्य मेरी समझ में आ गया। वह हार राजा रणधीरसिंह को उपहार में देने के लिये बनाया गया था।

यह बहुत सुंदर वस्तु थी। विद्याधरी ने अपना सारा चातुर्य उसके बनाने में ख़र्च किया था। कदाचित् यह सबसे उत्तम वस्तु थी, जो वह राजा साहब की भेंट कर सकती थी। वह ब्राह्मणी थी। राजा साहब की गुरुमाता थी। उसके हाथों से यह उपहार बहुत ही शोभा देता था, किंतु यह बात उसने मुझसे छिपाई क्यों?

मुझे उस दिन रात-भर नींद न आई। उसके इस रहस्य-भाव ने उसे मेरी नज़रों से गिरा दिया। एक बार आँख झपकी, तो मैंने

उसे स्वप्न में देखा, मानो वह एक सुंदर पुष्प है, किंतु उसकी बास निकल गई है। वह मुझसे गले मिलने के लिये बढ़ी, किंतु मैं हट गई और बोली—"तूने मुझसे वह बात छिपाई क्यों ?"

(१०)

ऐ मुसाफ़िर, राजा रणधीरसिंह की उदारता ने प्रजा को माला-माल कर दिया। रईसों और अमीरों ने ख़िलअतें पाईं। किसी को घोड़ा मिला, किसी को जागीर मिली। मुझे उन्होंने श्रीभगवद्-गीता की एक प्रति एक मख़मली बस्ने में रखकर दी। विद्या-धरी को एक बहुमूल्य जड़ाऊ कंगन मिला। उस कंगन में अन-मोल हीरे जड़े हुए थे। देहली के निपुण स्वर्णकारों ने उसके बनाने में अपनी कला का चमत्कार दिखाया था। विद्याधरी को अब तक आभूषणों से इतना प्रेम न था। अब तक सादगी ही उसका आभू-षण और पवित्रता ही उसका शृंगार थी, पर इस कंगन पर वह लोट-पोट हो गई।

आषाढ़ का महीना आया। घटाएँ गगन-मंडल में मँडलाने लगीं। पंडित श्रीधर को घर की सुध आई। पत्र लिखा कि मैं आ रहा हूँ। विद्याधरी ने मकान ख़ूब साफ़ कराया, और स्वयं अपना बनाव-शृंगार किया। उसके वस्त्रों से चंदन की महक उड़ रही थी। उसने कंगन को संदूक़चे से निकाला, और सोचने लगी कि इसे पहनूँ या न पहनूँ ? उसके मन ने निश्चय किया कि न पहनना चाहिए। संदूक़ बंद करके रख दिया।

सहसा लौंडी ने आकर सूचना दी कि पंडितजी आ गए। यह सुनते ही विद्याधरी लपककर उठी, किंतु पति के दर्शनों की उत्सु-कता उसे द्वार की ओर न ले गई। उसने बड़ी फ़ुर्ती से संदूक़चा खोला, कंगन निकालकर पहना, और अपनी सूरत आइने में देखने लगी।

इधर पंडितजी प्रेम की उत्कंठा से क़दम बढ़ाते दालान से आँगन, और आँगन से विद्याधरी के कमरे में आ पहुँचे। विद्याधरी ने आकर उनके चरणों को अपने सिर से स्पर्श किया। पंडितजी उसका यह श्रृंगार देखकर दंग रह गए। एकाएक उनकी दृष्टि उस कंगन पर पड़ी। राजा रणधीरसिंह की संगति ने उन्हें रत्नों का पारखी बना दिया था। ध्यान से देखा, तो एक-एक नगीना एक-एक हज़ार का था। चकित होकर बोले—"यह कंगन कहाँ मिला?"

विद्याधरी ने जवाब पहले ही सोच रक्खा था। रानी प्रियंवदा ने दिया है। यह जीवन में पहला अवसर था कि विद्याधरी ने अपने पतिदेव से कपट किया। जब हृदय शुद्ध न हो, तो मुख से सत्य क्योंकर निकले। कंगन नहीं, एक विषैला नाग था।

(११)

एक सप्ताह गुज़र गया। विद्याधरी के चित्त की शांति और प्रसन्नता लुप्त हो गई थी। ये शब्द कि 'रानी प्रियंवदा ने दिया है' प्रतिक्षण उसके कानों में गूँजा करते। वह अपने को धिक्कारती कि मैंने अपने प्राणाधार से क्यों कपट किया। बहुधा रोया करती। एक दिन उसने सोचा कि क्यों न चलकर पति से सारा वृत्तांत कह दूँ। क्या वह मुझे क्षमा न करेंगे? यह सोचकर वह उठी, किंतु पति के सम्मुख जाते ही उसकी ज़बान बंद हो गई। वह अपने कमरे में आई, और फूट-फूटकर रोने लगी। कंगन पहनकर उसे बहुत आनंद हुआ था। इसी कंगन ने उसे हँसाया था। अब वही रुला रहा था।

विद्याधरी ने रानी के साथ बाग़ों में सैर करना छोड़ दिया। चौपड़ और शतरंज उसके नाम को रोया करते। वह सारे दिन अपने कमरे में पड़ी रोया करती, और सोचती कि क्या करूँ।

काले वस्त्र पर काला दाग़ छिप जाता है, किंतु उज्ज्वल वस्त्र पर कालिमा की एक बूँद भी झलकने लगती है। वह सोचती, इसी कंगन ने मेरा सुख हर लिया है, यही कंगन मुझे रक्त के आँसू रुला रहा है। सर्प जितना सुंदर होता है, उतना ही विषाक्त भी होता है। यह सुंदर कंगन विषधर नाग है, मैं उसका सिर कुचल डालूँगी। यह निश्चय करके उसने एक दिन अपने कमरे में कोयले का अलाव जलाया, चारो तरफ़ के किवाड़ बंद कर दिए, और उस कंगन को, जिसने उसके जीवन को संकटमय बना रक्खा था, संदूक़चे से निकालकर आग में डाल दिया। एक दिन वह था कि यह कंगन उसे प्राणों से भी प्यारा था। उसे मख़मली संदूक़चे में रखती थी। आज उसे इतनी निर्दयता से आग में जला रही है!

विद्याधरी अलाव के सामने बैठी हुई थी कि इतने में पंडित श्रीधर ने द्वार खटखटाया। विद्याधरी को काटो, तो लहू नहीं। उसने उठकर द्वार खोल दिया, और सिर झुकाकर खड़ी हो गई। पंडितजी ने बड़े आश्चर्य से कमरे में निगाह दौड़ाई, पर रहस्य कुछ समझ में न आया। पूछा, किवाड़ बंद करके क्या हो रहा है? विद्याधरी ने उत्तर न दिया। तब पंडितजी ने छड़ी उठा ली, और अलाव को कुरेदा, तो कंगन निकल आया। उसका संपूर्णतः रूपांतर हो गया था। न वह चमक थी, न वह रंग, न वह आकार, घबराकर बोले—"विद्याधरी, तुम्हारी बुद्धि कहाँ है?"

विद्याधरी—"भ्रष्ट हो गई है।"

पंडितजी—"इस कंगन ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था?"

विद्याधरी—"इसने मेरे हृदय में आग लगा रक्खी थी।"

पंडितजी—"ऐसी अमूल्य वस्तु मिट्टी में मिल गई।"

विद्याधरी—"इसने उससे भी अमूल्य वस्तु का अपहरण किया है।"

पंडितजी—"तुम्हारा सिर तो नहीं फिर गया है?"

विद्याधरी—"शायद आपका अनुमान सत्य है।"

पंडितजी ने विद्याधरी की ओर चुभनेवाली निगाहों से देखा। विद्याधरी की आँखें नीचे को झुक गईं। वह उनसे आँखें न मिला सकी। भय हुआ कि कहीं यह तीव्र दृष्टि मेरे हृदय में न चुभ जाय। पंडितजी कठोर स्वर में बोले—"विद्याधरी, तुम्हें स्पष्ट कहना होगा।"

विद्याधरी से अब न रहा गया, वह रोने लगी, और पंडितजी के सम्मुख धरती पर गिर पड़ी।

(१२)

विद्याधरी को जब सुध आई, तो पंडितजी का वहाँ पता न था। घबराई हुई बाहर के दीवानख़ाने में आई; मगर यहाँ भी उन्हें न पाया। नौकरों से पूछा, तो मालूम हुआ कि घोड़े पर सवार होकर ज्ञानसागर की ओर गए हैं। यह सुनकर विद्याधरी को कुछ ढाढ़स हुआ। वह द्वार पर खड़ी होकर उनकी राह देखती रही। दोपहर हुआ, सूर्य सिर पर आया; संध्या हुई, चिड़ियाँ बसेरा लेने लगीं; फिर रात आई, गगन में तारागण जगमगाने लगे; किंतु विद्याधरी दीवार की भाँति खड़ी पति का इंतज़ार करती रही। रात भीग गई, वन-जंतुओं के भयानक शब्द कानों में आने लगे, सन्नाटा छा गया। सहसा उसे घोड़े के टापों की ध्वनि सुनाई दी। उसका हृदय धड़कने लगा। आनंदोन्मत्त होकर द्वार के बाहर निकल आई, किंतु घोड़े पर सवार न था। विद्याधरी को विश्वास हो गया कि अब पतिदेव के दर्शन न होंगे। या तो उन्होंने संन्यास ले लिया, या आत्मघात कर लिया। उसके कंठ से नैराश्य और विषाद में डूबी हुई ठंडी साँस निकली। वहीं भूमि पर बैठ गई, और सारी रात ख़ून के आँसू बहाती रही। जब उषा की निद्रा भंग हुई, और पक्षी आनंद-गान करने लगे, तब वह दुखिया उठी, और अंदर जाकर लेट रही।

जिस प्रकार सूर्य की ताप जल को सोख लेती है, उसी भाँति शोक के ताप ने विद्याधरी का रक्त जला दिया। मुख से ठंडी साँस निकलती थी, आँखों से गर्म आँसू बहते थे। भोजन से अरुचि हो गई और जीवन से घृणा। इसी अवस्था में एक दिन राजा रणधीरसिंह सहवेदना-भाव से उसके पास आए। उन्हें देखते ही विद्याधरी की आँखें रक्तवर्ण हो गईं, क्रोध से ओठ काँपने लगे, झल्लाई हुई नागिन की भाँति फुफकारकर उठी, और राजा के सम्मुख आकर कर्कश-स्वर में बोली—"पापी, यह आग तेरी ही लगाई हुई है। यदि मुझमें अब भी कुछ सत्य है, तो तुझे इस दुष्टता के कड़ुए फल मिलेंगे।" यह तीर के-से शब्द राजा के हृदय में चुभ गए। मुँह से एक शब्द भी न निकला। काल से न डरनेवाला राजपूत एक स्त्री की आग्नेय दृष्टि से काँप उठा।

(१३)

एक वर्ष बीत गया; हिमालय पर मनोहर हरियाली छाई, फूलों ने पर्वत की गोद में क्रीड़ा करनी शुरू की। यह ऋतु भी बीती, जल-थल ने बर्फ़ की सफ़ेद चादर ओढ़ी, जल-पक्षियों की मालाएँ मैदानों की ओर उड़ती हुई दिखाई देने लगीं। यह मौसम भी गुजरा। नदी-नालों में दूध की धारें बहने लगीं, चंद्रमा की स्वच्छ, निर्मल ज्योति ज्ञानसागर में थिरकने लगी, परंतु पंडित श्रीधर की कुछ टोह न लगी।

विद्याधरी ने राजभवन त्याग दिया, और एक पुराने, निर्जन मंदिर में तपस्विनियों की भाँति दिन काटने लगी। उस दुखिया की दशा कितनी करुणाजनक थी, उसे देखकर मेरी आँखें भर आती थीं। वह मेरी प्यारी सखी थी। उसकी संगति में मेरे जीवन के कई वर्ष आनंद से व्यतीत हुए थे। उसका यह अपार दुःख देखकर अपना दुःख भूल गई। एक दिन वह था कि उसने अपने पातिव्रत के बल पर

मनुष्य को पशु के रूप में परिणत कर दिया था, और आज यह दिन है कि उसका पति भी उसे त्याग रहा है। किसी स्त्री के हृदय पर इससे अधिक लज्जाजनक, इससे अधिक प्राणघातक आघात नहीं लग सकता। उसकी तपस्या ने मेरे हृदय में उसे फिर उसी सम्मान-पद पर बिठा दिया। उसके सतीत्व पर फिर मेरी श्रद्धा हो गई। किंतु उससे कुछ पूछते या सांत्वना देते मुझे संकोच होता था। मैं डरती थी, कहीं विद्याधरी यह न समझे कि मैं उससे बदला ले रही हूँ। कई महीनों के बाद, जब विद्याधरी ने अपने हृदय का बोझ हलका करने के लिये स्वयं मुझसे यह वृत्तांत कहा, तो मुझे ज्ञात हुआ कि यह सब काँटे राजा रणधीरसिंह के बोए हुए थे। उन्हीं की प्रेरणा से रानीजी ने उसे पंडितजी के साथ जाने से रोका। उसके स्वभाव ने जो कुछ रंग बदला, वह रानीजी ही की कुसंगति का फल था। उन्हीं की देखादेखी उसे बनाव-शृंगार की चाट पड़ी, उन्हीं के मना करने से उसने कंगन का भेद पंडितजी से छिपाया। ऐसी घटनाएँ स्त्रियों के जीवन में नित्य होती रहती हैं, और उन्हें ज़रा भी शंका नहीं होती। विद्याधरी का पातिव्रत आदर्श था। इस-लिये यह विचलता उसके हृदय में चुभने लगी। मैं यह नहीं कहती कि विद्याधरी कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुई, चाहे किसी के बहकाने से, चाहे अपने भोलेपन से, उसने कर्तव्य का सीधा रास्ता छोड़ दिया, परंतु पाप-कल्पना उसके दिल से कोसों दूर थी।

(१४)

ऐ मुसाफ़िर, मैंने पंडित श्रीधर का पता लगाना शुरू किया। मैं उनकी मनोवृत्ति से परिचित थी। वह श्रीरामचंद्र के भक्त थे। कौशल-पुरी की पवित्र भूमि और सरयू नदी के रमणीक तट उनके जीवन के सुख-स्वप्न थे। मुझे ख़याल आया कि संभव है, उन्होंने अयोध्या की राह ली हो। कहीं मेरे प्रयत्न से उनकी खोज मिल जाती, और मैं उन्हें

13487

आकर विद्याधरी के गले से मिला देती, तो मेरा जीवन सफल हो जाता। इस विरहिणी ने बहुत दुःख झेले हैं। क्या अब भी देवताओं को इस पर दया न आवेगी! एक दिन मैंने शेरसिंह से सलाह की, और पाँच विश्वस्त मनुष्यों के साथ अयोध्या चली। पहाड़ों से नीचे उतरते ही रेल मिल गई। उसने हमारी यात्रा सुलभ कर दी। बीसवें दिन मैं अयोध्या पहुँच गई, और एक धर्मशाले में ठहरी। फिर सरयू में स्नान करके श्रीरामचंद्र के दर्शन को चली। मंदिर के आँगन में पहुँची ही थी कि पंडित श्रीधर की सौम्य मूर्ति दिखाई दी। वह एक कुशासन पर बैठे रामायण का पाठ कर रहे थे, और सहस्त्रों नर-नारी बैठे हुए उनकी अमृत-वाणी का आनंद उठा रहे थे।

पंडितजी की दृष्टि मुझ पर ज्यों ही पड़ी, वह आसान से उठकर मेरे पास आए, और बड़े प्रेम से मेरा स्वागत किया। दो-ढाई घंटे तक उन्होंने मुझे उस मंदिर की सैर कराई। मंदिर की छत पर से सारा नगर शतरंज की बिसात की भाँति मेरे पैरों के नीचे फैला हुआ दिखाई देता था। मंदगामिनी वायु सरयू की तरंगों को धीरे-धीरे थपकियाँ दे रही थी। ऐसा जान पड़ता था, मानों स्नेहमयी माता ने इस नगर को अपनी गोद में लिया हो। यहाँ से जब मैं अपने डेरे को चली, तो पंडितजी भी मेरे साथ आए। जब वह इतमीनान से बैठे, तो मैंने कहा—"आपने तो हम लोगों से नाता ही तोड़ लिया।"

पंडितजी ने दुःखित होकर कहा—"विधाता की यही इच्छा थी, तो मेरा क्या वश। अब तो श्रीरामचंद्र की शरण आ गया हूँ, और शेष जीवन उन्हीं की सेवा की भेंट करूँगा।"

मैं—"आप तो श्रीरामचंद्र की शरण आ गए हैं, उस अबला विद्याधरी को किसकी शरण छोड़ दिया है?"

पंडितजी--"आपके मुख से ये शब्द शोभा नहीं देते ।"

मैंने उत्तर दिया—"विद्याधरी को मेरी सिफ़ारिश की आवश्यकता नहीं। अगर आपने उसके पातिव्रत पर संदेह किया है, तो आपसे ऐसा भीषण पाप हुआ है, जिसका प्रायश्चित्त आप बार-बार जन्म लेकर भी नहीं कर सकते। आपकी यह भक्ति इस अधर्म का निवारण नहीं कर सकती। क्या आप जानते हैं कि आपके वियोग में उस दुखिया का जीवन कैसे कट रहा है।"

पंडितजी ने ऐसा मुँह बना लिया, मानो इस विषय में वह अंतिम शब्द कह चुके। पर मैं इतनी आसानी से उनका पीछा क्यों छोड़ने लगी थी। मैंने सारी कथा आद्योपांत सुनाई। और रणधीरसिंह की कपट-नीति का रहस्य खोल दिया। तब पंडितजी की आँखें खुलीं। मैं वाणी में कुशल नहीं हूँ, किंतु उस समय सत्य और न्याय के पक्ष ने मेरे शब्दों को बहुत ही प्रभावशाली बना दिया था। ऐसा जान पड़ता था, मानो मेरी जिह्वा पर सरस्वती विराजमान हों। अब वे बातें याद आती हैं, तो मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। आख़िर विजय मेरे ही हाथ रही। पंडितजी मेरे साथ चलने को तैयार हो गए।

(१५)

यहाँ आकर मैंने शेरसिंह को यहीं छोड़ा, और पंडितजी के साथ अर्जुननगर चली। हम दोनो अपने विचारों में मग्न थे। पंडितजी की गर्दन शर्म से झुकी हुई थी; क्योंकि अब वह रूठनेवाले नहीं, मनानेवाले थे।

आज प्रणय के सूखे हुए धान में फिर पानी पड़ेगा, प्रेम की सूखी हुई नदी फिर उमड़ेगी!

जब हम विद्याधरी के द्वार पर पहुँचे, तो दिन चढ़ आया था। पंडितजी बाहर ही रुक गए थे। मैंने भीतर जाकर देखा, तो विद्याधरी

पूजा पर थी। किंतु यह किसी देवता की पूजा न थी। देवता के स्थान पर पंडितजी की खड़ाऊँ रक्खी हुई थीं। पातिव्रत का यह अलौकिक दृश्य देखकर मेरा हृदय पुलकित हो गया। मैंने दौड़कर विद्याधरी के चरणों पर सिर झुका दिया। उसका शरीर सूखकर काँटा हो गया था, और शोक ने कमर झुका दी थी।

विद्याधरी ने मुझे उठाकर छाती से लगा लिया, और बोली—"बहन, मुझे लज्जित न करो। ख़ूब आईं, बहुत दिनों से जी तुम्हें देखने को तरस रहा था।"

मैंने उत्तर दिया—"ज़रा अयोध्या चली गई थी।"

जब हम दोनो अपने देश में थीं, तो जब मैं कहीं जाती, तो विद्याधरी के लिये कोई-न-कोई उपहार अवश्य लाती। उसे यह बात याद आ गई। सजल-नयन होकर बोली—"मेरे लिये भी कुछ लाईं?"

मैं—"एक बहुत अच्छी वस्तु लाई हूँ।"

विद्याधरी—"क्या है, देखूँ?"

मैं—"पहले बूझ जाओ।"

विद्याधरी—"सुहाग की पिटारी होगी।"

मैं—"नहीं, उससे अच्छी।"

विद्याधरी—"ठाकुरजी की मूर्ति।"

मैं—"नहीं, उससे भी अच्छी।"

विद्याधरी—"मेरे प्राणाधार का कोई समाचार।"

मैं—"उससे भी अच्छा।"

विद्याधरी प्रबल आवेश से व्याकुल होकर उठी कि द्वार पर जाकर पति का स्वागत करे, किंतु निर्बलता ने मन की अभिलाषा न निकलने दी। तीन बार सँभली, और तीन बार गिरी। तब मैंने उसका सिर अपनी गोद में रख लिया, और आँचल से हवा करने

लगी। उसका हृदय बड़े वेग से धड़क रहा था, और पति-दर्शन का आनंद आँखों से आँसू बनकर निकलता था।

जब ज़रा चित्त सावधान हुआ, तो उसने कहा—"उन्हें बुला लो, उनका दर्शन मुझे रामबाण हो जायगा।"

ऐसा ही हुआ। ज्यों ही पंडितजी अंदर आए, विद्याधरी उठकर उनके पैरों से लिपट गई। देवी ने बहुत दिनों के बाद पति के दर्शन पाए हैं। अश्रु-धारा उनके पैर पखार रही है।

मैंने वहाँ ठहरना उचित न समझा। इन दोनो प्राणियों के हृदय में कितनी ही बातें आ रही होंगी, दोनो क्या कहना और क्या-क्या सुनना चाहते होंगे, यह विचारकर मैं उठ खड़ी हुई, और बोली—"बहन, अब मैं जाती हूँ, शाम को फिर आऊँगी।" विद्याधरी ने मेरी ओर आँखें उठाईं, पुतलियों के स्थान पर हृदय रक्खा हुआ था। दोनो आँखें आकाश की ओर उठाकर बोली—"ईश्वर तुम्हें इस यश का फल दें।"

(१६)

ऐ मुसाफ़िर, मैंने दो बार पंडित श्रीधर को मौत के मुँह से बचाया था, किंतु आज का-सा आनंद मुझे कभी न प्राप्त हुआ था।

जब मैं ज्ञानसागर पर पहुँची, तो दोपहर हो आया था। विद्याधरी की शुभ कामना मुझसे पहले ही पहुँच चुकी थी। मैंने देखा कि कोई पुरुष गुफा से निकलकर ज्ञानसागर की ओर चला जाता है। मुझे आश्चर्य हुआ कि इस समय यहाँ कौन आया। लेकिन जब वह समीप आ गया, तो मेरे हृदय में ऐसी तरंगें उठने लगीं, मानो वह छाती से बाहर निकल पड़ेगा। यह मेरे प्राणेश्वर, मेरे पतिदेव थे। मैं उनके चरणों पर गिरना ही चाहती थी कि उनका कर-पाश मेरे गले में पड़ गया।

पूरे दस वर्षों के बाद आज मुझे यह शुभ-दिन देखना नसीब हुआ। मुझे इस समय ऐसा जान पड़ता था कि ज्ञानसागर के कमल मेरे ही लिये खिले हैं, गिरिराज ने मेरे ही लिये फूल की शय्या बिछाई है, हवा मेरे ही लिये झूमती हुई आ रही है।

दस वर्षों के बाद मेरा उजड़ा हुआ घर बसा; गए हुए दिन लौटे। मेरे आनंद का अनुमान कौन कर सकता है।

मेरे पति ने प्रेम-करुण आँखों से देखकर कहा—"प्रियंवदा!"

त्यागी का प्रेम

(१)

लाला गोपीनाथ को युवावस्था में ही दर्शन से प्रेम हो गया था। अभी वह इंटरमीजियट-क्लास में थे कि मिल और बर्कले के वैज्ञानिक विचार उन्हें कंठस्थ हो गए थे। उन्हें किसी प्रकार के विनोद-प्रमोद से रुचि न थी, यहाँ तक कि कालेज के क्रिकेट-मैचों में भी उनको उत्साह न होता था। हास्य-परिहास से कोसों भागते, और उनसे प्रेम की चर्चा करना तो मानो बच्चे को जूजू से डराना था। प्रातःकाल घर से निकल जाते, और शहर से बाहर किसी सघन वृक्ष की छाँह में बैठकर दर्शन का अध्ययन करने में निरत हो जाते। काव्य, अलंकार, उपन्यास, सभी को त्याज्य समझते थे। शायद ही अपने जीवन में उन्होंने कोई किस्से-कहानी की किताब पढ़ी हो। इसे केवल समय का दुरुपयोग ही नहीं, वरन् मन और बुद्धि-विकास के लिये घातक ख़याल करते थे। इसके साथ ही वह उत्साह-हीन न थे। सेवा-समितियों में बड़े उत्साह से भाग लेते। स्वदेश-वासियों की सेवा के किसी अवसर को हाथ से न जाने देते। बहुधा मुहल्ले के छोटे-छोटे दूकानदारों की दूकान पर जा बैठते, और उनके घाटे-टोटे, मंदे-तेज़ की राम-कहानी सुनते।

शनैःशनैः कॉलेज से उन्हें घृणा हो गई। उन्हें अब अगर किसी विषय से प्रेम था, तो वह दर्शन था। कॉलेज की बहुविषयक शिक्षा उनके दर्शनानुराग में बाधक होती। अतएव उन्होंने कॉलेज छोड़ दिया, और एकाग्रचित्त होकर विज्ञानोपार्जन करने लगे। किंतु दर्शनानुराग के साथ-ही-साथ उनका देशानुराग भी बढ़ता गया, और कॉलेज छोड़ने के थोड़े ही दिनों बाद वह अनिवार्यतः जाति-सेवक

के दल में सम्मिलित हो गए। दर्शन में भ्रम था, अविश्वास था, अंधकार था। जाति-सेवा में सम्मान था, यश था और दीनों का आशीर्वाद था। उनका वह सदनुराग, जो बरसों से वैज्ञानिक वादों के नीचे दबा हुआ था, वायु के प्रचंड वेग के साथ निकल पड़ा। नगर के सार्वजनिक क्षेत्र में कूद पड़े। देखा, तो मैदान ख़ाली था। जिधर आँख उठाते, सन्नाटा दिखाई देता। ध्वजाधारियों की कमी न थी, पर सच्चे हृदय कहीं नज़र न आते थे। चारो ओर से उनकी खींच होने लगी। किसी संस्था के मंत्री बने, किसी के प्रधान; किसी के कुछ, किसी के कुछ। इसके आवेश में दर्शनानुराग भी बिदा हुआ। पिंजरे में गानेवाली चिड़िया विस्तृत पर्वत-राशियों में आकर अपना राग भूल गई! अब भी वह समय निकाल कर दर्शन-ग्रंथों के पन्ने उलट-पलट लिया करते थे, विचार और अनुशीलन का अवकाश कहाँ? नित्य मन में यही संग्राम होता रहता कि किधर जाऊँ? उधर या इधर? विज्ञान अपनी ओर खींचता, देश अपनी ओर।

एक दिन वह इसी उलझन में नदी के तट पर बैठे हुए थे। जलधारा-तट के दृश्यों और वायु के प्रतिकूल झोंकों की परवा न करते हुए बड़े वेग के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ी चली जाती थी। पर लाला गोपीनाथ का ध्यान इस तरफ़ न था, वह अपने स्मृति-भंडार से किसी ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष को खोज निकालना चाहते थे, जिसने जाति-सेवा के साथ विज्ञानसागर में ग़ोते लगाए हों। सहसा उनके कॉलेज के एक अध्यापक, पंडित अमरनाथ अग्निहोत्री, आकर उनके समीप बैठ गए, और बोले—"कहिए लाला गोपीनाथ, क्या ख़बरें हैं?"

गोपीनाथ ने रुखाई से उत्तर दिया—"कोई नई बात तो नहीं हुई। पृथ्वी अपनी गति से चली जा रही है।"

अमरनाथ—"म्युनिसिपल बोर्ड नंबर २१ की जगह ख़ाली है, उसके लिये किसे चुनना निश्चित किया है?"

गोपीनाथ—"देखिए, कौन होता है। आप भी खड़े हुए हैं?"

अमरनाथ—"अजी, मुझे तो लोगों ने ज़बरदस्ती घसीट लिया, नहीं तो मुझे इतनी फ़ुर्सत कहाँ?"

गोपीनाथ—"मेरा भी यही विचार है। अध्यापकों का क्रियात्मक राजनीति में फँसना बहुत अच्छी बात नहीं।"

अमरनाथ इस व्यंग्य से बहुत लज्जित हुए। एक क्षण के बाद प्रतिकार के अभाव से बोले—"तुम आजकल दर्शन का अभ्यास करते हो या नहीं?"

गोपीनाथ—"बहुत कम। इसी दुबिधा में पड़ा हुआ हूँ कि राष्ट्रीय सेवा का मार्ग ग्रहण करूँ या सत्य की खोज में जीवन व्यतीत करूँ।"

अमरनाथ—"राष्ट्रीय संस्थाओं में सम्मिलित होने का समय अभी तुम्हारे लिये नहीं आया। अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है। जब तक विचारों में गांभीर्य और सिद्धांतों पर दृढ़ विश्वास न आ जाय, उस समय तक केवल क्षणिक आवेशों के वशवर्ती होकर किसी काम में कूद पड़ना अच्छी बात नहीं। राष्ट्रीय सेवा बड़े उत्तरदायित्व का काम है।"

(२)

गोपीनाथ ने निश्चय कर लिया, मैं जाति-सेवा में जीवनक्षेप करूँगा। अमरनाथ ने भी यही फ़ैसला किया कि मैं म्युनिसिपैलिटी में अवश्य जाऊँगा। दोनो का परस्पर विरोध उन्हें कर्म-क्षेत्र की ओर खींच ले गया। गोपीनाथ की साख पहले ही से जम गई थी। घर के धनी थे। शक्कर और सोने-चाँदी की दलाली होती थी। व्यापारियों में उनके पिता का बड़ा मान था। गोपीनाथ के दो बड़े

भाई थे। वे भी दलाली करते थे। परस्पर मेल था, धन था, संतानें थीं। अगर न थी, तो शिक्षा और शिक्षित समुदाय में गड़ना। वह बात गोपीनाथ की बदौलत प्राप्त हो गई। इसलिये उनकी स्वच्छंदता पर किसी ने आपत्ति नहीं की, किसी ने उन्हें धनोपार्जन के लिये मजबूर नहीं किया। अतएव गोपीनाथ निश्चित और निर्द्वंद्व होकर राष्ट्र-सेवा में निरत हो गए। कहीं किसी अनाथालय के लिये चंदा जमा करते, कहीं किसी कन्या-पाठशाला के लिये भिक्षा माँगते फिरते। नगर की कांग्रेस-कमेटी ने उन्हें अपना मंत्री नियुक्त किया। उस समय तक कांग्रेस ने कर्म-क्षेत्र में पदार्पण नहीं किया था। उनकी कार्यशीलता ने इस जीर्ण संस्था का मानों पुनरुद्धार कर दिया। वह प्रातः से संध्या और बहुधा पहर रात तक इन्हीं कामों में लिप्त रहते थे। चंदे का रजिस्टर हाथ में लिए उन्हें नित्यप्रति साँझ-सबेरे अमीरों और रईसों के द्वार पर खड़े देखना एक साधारण दृश्य था। धीरे-धीरे कितने ही युवक उनके भक्त हो गए। लोग कहते, कितना निस्स्वार्थ, कितना आदर्शवादी, त्यागी, जाति-सेवक है। कौन सुबह से शाम तक निस्स्वार्थ भाव से केवल जनता का उपकार करने के लिये यों दौड़-धूप करेगा? उनका आत्मोत्सर्ग प्रायः द्वेषियों को भी अनुरक्त कर देता था। उन्हें बहुधा रईसों की अभद्रता, असज्जनता, यहाँ तक कि उनके कटु शब्द भी सहने पड़ते थे। उन्हें अब विदित होता जाता था कि जाति-सेवा बड़े अंशों तक केवल चंदे माँगना है। इसके लिये धनिकों की दरबारदारी या दूसरे शब्दों में ख़ुशामद भी करनी पड़ती थी। दर्शन के उस गौरव-युक्त अध्ययन और इस दान-लोलुपता में कितना अंतर था! कहाँ मिल और कैंट, स्पेन्सर और किड के साथ एकांत में बैठे हुए जीव और प्रकृति के गहन, गूढ़ विषय पर वार्तालाप, और कहाँ

इन अभिमानी, असभ्य, मूर्ख व्यापारियों के सामने सिर झुकाना! वह अंतःकरण में उनसे घृणा करते थे। वे लोग धनी थे, और केवल धन कमाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त उनमें और कोई विशेष गुण न था। उनमें अधिकांश ऐसे थे, जिन्होंने कपट-व्यापार से धनोपार्जन किया था। पर गोपीनाथ के लिये वे सभी पूज्य थे, क्योंकि उन्हीं की कृपादृष्टि पर उनकी राष्ट्र-सेवा अवलंबित थी।

इस प्रकार कई वर्ष गुज़र गए। गोपीनाथ नगर के मान्य पुरुषों में गिने जाने लगे। वह दीनजनों के आधार और दुखियों के मददगार थे। अब वह बहुत कुछ निर्भीक हो गए थे, और कभी-कभी रईसों को भी कुमार्ग पर चलते देखकर फटकार दिया करते थे। उनकी तीव्र आलोचना भी अब चंदा जमा करने में उनकी सहायक हो जाती थी।

अभी तक उनका विवाह न हुआ था। वह पहले ही से ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर चुके थे। विवाह करने से साफ़ इनकार किया। मगर जब पिता और अन्य बंधुजनों ने बहुत आग्रह किया, और उन्होंने स्वयं कई विज्ञान-ग्रंथों में देखा कि इंद्रिय-दमन स्वास्थ्य के लिये हानिकर है, तो असमंजस में पड़े। कई हफ़्ते सोचते हो गए, और वह मन में कोई बात पक्की न कर सके। स्वार्थ और परमार्थ में संघर्ष हो रहा था। विवाह का अर्थ था अपनी उदारता की हत्या करना, अपने विस्तृत हृदय को संकुचित करना, राष्ट्र से मुँह मोड़ना। वह अब इतने ऊँचे आदर्श का त्याग करना निंद्य और उपहासजनक समझते थे। इसके अतिरिक्त अब वह अनेक कारणों से अपने को पारिवारिक जीवन के अयोग्य पाते थे। जीविका के लिये जिस उद्योगशीलता, जिस अनवरत परिश्रम और जिस मनोवृत्ति की आवश्यकता है, वह उनमें न रही थी। जाति-सेवा में भी उद्योगशीलता और

अध्यवसाय की कम ज़रूरत न थी, लेकिन उसमें आत्मगौरव की हानि न होती थी। परोपकार के लिये भिक्षा माँगना दान है, अपने लिये पान का एक बीड़ा भी भिक्षा है। स्वभाव में एक प्रकार की स्वच्छंदता आ गई थी। इन त्रुटियों पर परदा डालने के लिये जाति-सेवा का बहाना बहुत अच्छा था।

एक दिन वह सैर करने जा रहे थे कि रास्ते में अध्यापक अमरनाथ से मुलाक़ात हो गई। यह महाशय अब म्युनिसिपल-बोर्ड के मंत्री हो गए थे, और आजकल इस दुबिधा में पड़े हुए थे कि शहर में मादक वस्तुओं के बेचने का ठेका लूँ या न लूँ। लाभ बहुत था, पर बदनामी भी कम न थी। अभी तक कुछ निश्चय न कर सके थे। इन्हें देखकर बोले—"कहिए लालाजी, मिज़ाज अच्छा है न! आपके विवाह के विषय में क्या हुआ?"

गोपीनाथ ने दृढ़ता से कहा—"मेरा इरादा विवाह करने का नहीं है।"

अमरनाथ—"ऐसी भूल न करना। तुम अभी नवयुवक हो, तुम्हें संसार का कुछ अनुभव नहीं। मैंने ऐसी कितनी मिसालें देखी हैं, जहाँ अविवाहित रहने से लाभ के बदले हानि ही हुई है। विवाह मनुष्य को सुमार्ग पर रखने का सबसे उत्तम साधन है, जो अब तक मनुष्य ने आविष्कृत किया है। उस व्रत से क्या फ़ायदा, जिसका परिणाम छिछोरापन हो।"

गोपीनाथ ने प्रत्युत्तर दिया—"आपने मादक वस्तुओं के ठेके के विषय में क्या निश्चय किया?"

अमरनाथ—"अभी तक कुछ नहीं। जी हिचकता है। कुछ-न-कुछ बदनामी तो होगी ही।"

गोपीनाथ—"एक अध्यापक के लिये मैं इस पेशे को अपमान समझता हूँ।"

अमरनाथ—"कोई पेशा ख़राब नहीं, अगर ईमानदारी से किया जाय।"

गोपीनाथ—"यहाँ मेरा आपसे मतभेद है। कितने ऐसे व्यवसाय हैं, जिन्हें एक सुशिक्षित व्यक्ति कभी स्वीकार नहीं कर सकता। मादक वस्तुओं का ठेका इनमें से एक है।"

गोपीनाथ ने आकर अपने पिता से कहा—"मैं कदापि विवाह न करूँगा। आप लोग मुझे विवश न करें, वर्ना पछताइएगा।"

अमरनाथ ने उसी दिन ठेके के लिये प्रार्थनापत्र भेज दिया, और वह स्वीकृत भी हो गया।

(३)

दो साल हो गए हैं। लाला गोपीनाथ ने एक कन्या-पाठशाला खोली है, और उसके प्रबंधक हैं। शिक्षा की विभिन्न पद्धतियों का उन्होंने ख़ूब अध्ययन किया है। और, इस पाठशाला में आप उनका व्यवहार कर रहे हैं। शहर में यह पाठशाला बहुत ही सर्वप्रिय है। इसने बहुत अंशों में उस उदासीनता को दूर कर दिया है, जो माता-पिता को पुत्रियों की शिक्षा की ओर होती है। शहर के गण्य-मान्य पुरुष अपनी लड़कियों को सहर्ष पढ़ने भेजते हैं। वहाँ की शिक्षा-शैली कुछ ऐसी मनोरंजक है कि बालिकाएँ एक बार जाकर मानों मंत्र-मुग्ध हो जाती हैं। फिर उन्हें घर पर चैन नहीं मिलता। ऐसी व्यवस्था की गई है कि तीन-चार वर्षों में कन्याओं को गृहस्थी के मुख्य कामों से परिचय हो जाय। सबसे बड़ी बात यह कि यहाँ धर्म-शिक्षा का भी समुचित प्रबंध किया गया है। अब की साल से प्रबंधक महोदय ने अँगरेज़ी की कक्षाएँ भी खोल दी हैं। उन्होंने एक सुशिक्षित गुजराती महिला को बंबई से बुलाकर पाठशाला उनके हाथ में दे दी है। इन महिला का नाम है आनंदीबाई। विधवा हैं, हिंदी-भाषा से भली भाँति परिचित नहीं, किंतु गुजराती

में कई पुस्तकें लिख चुकी हैं। कई कन्या-पाठशालाओं में काम कर चुकी हैं। शिक्षा-संबंधी विषयों में अच्छी गति है। उनके आने से मदरसे में और भी रौनक़ आ गई है। कई प्रतिष्ठित सज्जनों ने, जो अपनी बालिकाओं को मसूरी और नैनीताल भेजना चाहते थे, अब उन्हें यहीं भरती करा दिया है। आनंदीबाई रईसों के घरों में जाती हैं, और स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार करती हैं। उनके वस्त्राभूषणों से सुरुचि का बोध होता है। हैं भी उच्च कुल की, इसलिये शहर में उनका बड़ा सम्मान होता है। लड़कियाँ उन पर जान देती हैं, उन्हें मा कहकर पुकारती हैं। गोपीनाथ पाठशाला की उन्नति देख-देखकर फूले नहीं समाते। जिससे मिलते हैं, आनंदीबाई का ही गुणगान करते हैं। बाहर से कोई सुविख्यात पुरुष आता है, तो उससे पाठशाला का निरीक्षण अवश्य कराते हैं। आनंदी की प्रशंसा से उन्हें वही आनंद प्राप्त होता है, जो स्वयं अपनी प्रशंसा से होता है। बाईजी को भी दर्शन से प्रेम है, और सबसे बड़ी बात यह कि उन्हें गोपीनाथ पर असीम श्रद्धा है। वह हृदय से उनका सम्मान करती हैं। उनके त्याग और निष्काम जाति-भक्ति ने उन्हें वशीभूत कर लिया है। वह मुँह पर तो उनकी बड़ाई नहीं करतीं, पर रईसों के घरों में बड़े प्रेम से उनका यश-गान करती हैं। ऐसे सच्चे सेवक आजकल कहाँ ? लोग कीर्ति पर जान देते हैं। जो थोड़ी-बहुत सेवा करते हैं। वह दिखावे के लिये। सच्ची लगन किसी में नहीं। मैं लालाजी को पुरुष नहीं, देवता समझती हूँ। कितना सरल, संतोषमय जीवन है ! न कोई व्यसन, न विलास। सबेरे से सायंकालत क दौड़ते रहते हैं, न खाने का कोई समय, न सोने का। उस पर कोई ऐसा नहीं, जो उनके आराम का ध्यान रक्खे। बेचारे घर गए, जो कुछ किसी ने सामने रख दिया, चुपके खा लिया, फिर छड़ी उठाई, और किसी

तरफ़ चल दिए। दूसरी औरत कदापि अपनी पत्नी की भाँति सेवा-सत्कार नहीं कर सकती।

दशहरे के दिन थे। कन्या-पाठशाला में उत्सव मनाने की तैयारियाँ हो रही थीं। एक नाटक खेलने का निश्चय किया गया था। भवन ख़ूब सजाया गया था। शहर के रईसों को निमंत्रण दिए गए थे। यह कहना कठिन है कि किसका उत्साह बढ़ा हुआ था, बाईजी का या लाला गोपीनाथ का। गोपीनाथ सामग्रियाँ एकत्र कर रहे थे, उन्हें अच्छे ढंग से सजाने का भार आनंदी ने लिया था। नाटक भी इन्हीं ने रचा था। नित्यप्रति उसका अभ्यास कराती थीं, और स्वयं एक पार्ट ले रक्खा था।

विजया-दशमी आ गई। दोपहर तक गोपीनाथ फ़र्श और कुरसियों का इंतज़ाम करते रहे। जब एक बज गया, और अब भी वह वहाँ से न टले, तो आनंदी ने कहा—"लालाजी, आपको भोजन करने को देर हो रही है। अब सब काम हो गया है। जो कुछ बच रहा है, मुझ पर छोड़ दीजिए।"

गोपीनाथ ने कहा—"खा लूँगा। मैं ठीक समय पर भोजन करने का पाबंद नहीं हूँ। फिर घर तक कौन जाय। घंटों लग जायँगे। भोजन के उपरांत आराम करने को जी चाहेगा। शाम हो जायगी।"

आनंदी—"भोजन तो मेरे यहाँ तैयार है, ब्राह्मणी ने बनाया है। चलकर खा लीजिए, और यहीं ज़रा देर आराम भी कर लीजिए।"

गोपीनाथ—"यहाँ क्या खा लूँ! एक वक़्त न खाऊँगा, तो ऐसी कौन-सी हानि हो जायगी?"

आनंदी—"जब भोजन तैयार है, तो उपवास क्यों कीजिएगा!"

गोपीनाथ—"आप जायँ, आपको अवश्य देर हो रही है। मैं काम में ऐसा भूला कि आपकी सुधि ही न रही।"

आनंदी—"मैं भी एक जून उपवास कर लूँगी, तो क्या हानि होगी ?"

गोपीनाथ —"नहीं-नहीं, इसकी क्या ज़रूरत। मैं आपसे सच कहता हूँ, मैं बहुधा एक ही जून खाता हूँ।"

आनंदी—"अच्छा, मैं आपके इनकार का आशय समझ गई। इतनी मोटी बात अब तक मुझे न सूझी।"

गोपीनाथ—"क्या समझ गईं ? मैं छूत-छात नहीं मानता। यह तो आपको मालूम ही है।"

आनंदी—"इतना जानती हूँ। किंतु जिस कारण आप मेरे यहाँ भोजन करने से इनकार कर रहे हैं, उसके विषय में केवल इतना निवेदन है कि मेरा आपसे केवल स्वामी-सेवक का संबंध नहीं है। आपका मेरे पान-फूल को अस्वीकार करना अपने एक सच्चे भक्त के मर्म को आघात पहुँचाना है। मैं आपको इसी दृष्टि से देखती हूँ।"

गोपीनाथ को अब कोई आपत्ति न हो सकी। जाकर भोजन कर लिया। वह जब तक आसन पर बैठे रहे, आनंदी बैठी पंखा झलती रही।

इस घटना की लाला गोपीनाथ के मित्रों ने यों आलोचना की—"महाशयजी अब तो वहीं ('वहीं' पर ख़ूब ज़ोर देकर) भोजन भी करते हैं।"

(४)

शनैः-शनैः परदा हटने लगा। लाला गोपीनाथ को अब परवशता ने साहित्य-सेवी बना दिया था। घर से उन्हें भोजन और वस्त्र तो मिल जाता था, किंतु पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य अनेक कामों के लिये उन्हें घरवालों से कुछ माँगते हुए बहुत संकोच होता था। उनका आत्मसम्मान ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिये

भाइयों के सामने हाथ फैलाना अनुचित समझता था। वह अपनी ज़रूरतें आप पूरी करनी चाहते थे। घर पर भाइयों के लड़के इतना कोलाहल मचाते कि उनका जी कुछ लिखने में न लगता। इसलिये जब उनकी कुछ लिखने की इच्छा होती, तो बेखटके पाठशाला चले जाते। आनंदीबाई भी वहीं रहती थीं। वहाँ न कोई शोर था, न गुल। एकांत में काम करने में जी लगता। भोजन का समय आ जाता, तो वहीं भोजन भी कर लेते। कुछ दिनों के बाद उन्हें लिखने में कुछ असुविधा होने लगी (आँखें कमज़ोर हो गई थीं), तो आनंदी ने लिखने का भार अपने सिर ले लिया। लाला साहब बोलते थे, आनंदी लिखती थी। गोपीनाथ की प्रेरणा से उसने हिंदी सीख ली थी, और थोड़े ही दिनों में इतनी अभ्यस्त हो गई थी कि उसे लिखने में ज़रा भी हिचक न होती। लिखते समय कभी-कभी उसे ऐसे शब्द और मुहावरे सूझ जाते कि गोपीनाथ फड़क उठते, उनके लेख में जान-सी पड़ जाती। वह कहते, यदि तुम स्वयं कुछ लिखो, तो मुझसे बहुत अच्छा लिखोगी। मैं तो बेगार करता हूँ। तुम्हें परमात्मा की ओर से यह शक्ति प्रदान हुई है। नगर के लालबुझक्कड़ों में इस सहकारिता पर टीका-टिप्पणियाँ होने लगीं। पर विद्वज्जन अपनी आत्मा की शुचिता के सामने ईर्ष्या के व्यंग्य की कब परवा करते हैं। आनंदी कहती, यह तो संसार है, जिसके मन में जो आवे, कहे, मैं उस पुरुष का निरादर नहीं कर सकती, जिस पर मेरी श्रद्धा है। पर गोपीनाथ इतने निर्भीक न थे। उनकी सुकीर्ति का आधार लोक-मत था। वह उसकी भर्त्सना न कर सकते थे। इसलिये वह दिन के बदले रात को रचना करने लगे। पाठशाला में इस समय कोई देखनेवाला न होता था। रात की नीरवता में ख़ूब जी लगता। आराम-कुर्सी पर लेट जाते। आनंदी मेज़ के सामने क़लम

हाथ में लिए उनकी ओर देखा करती। जो कुछ उनके मुख से निकलता, तुरंत लिख लेती। उसकी आँखों से विनय और शील, श्रद्धा और प्रेम की किरणें-सी निकलती हुई जान पड़तीं। गोपीनाथ जब किसी भाव को मन में व्यक्त करने के बाद आनंदी की ओर ताकते कि वह लिखने के लिये तैयार है या नहीं, तो दोनो व्यक्तियों की निगाहें मिलतीं, और आप-ही-आप झुक जातीं। गोपीनाथ को इस तरह काम करने की ऐसी आदत पड़ती जाती थी कि जब किसी कार्य-वश यहाँ आने का अवसर न मिलता, तो वह विकल हो जाते थे।

आनंदी से मिलने के पहले गोपीनाथ को स्त्रियों का जो कुछ ज्ञान था, वह केवल पुस्तकों पर अवलंबित था। स्त्रियों के विषय में प्राचीन और अर्वाचीन, प्राच्य और पाश्चात्य, सभी विद्वानों का एक ही मत था—ये मायावी, आत्मिक उन्नति की बाधक, परमार्थ की विरोधिनी, वृत्तियों को कुमार्ग की ओर ले जानेवाली, हृदय को संकीर्ण बनानेवाली होती हैं। इन्हीं कारणों से उन्होंने इस मायावी जाति से अलग रहना ही श्रेयस्कर समझा था, किंतु अब अनुभव बतला रहा था कि स्त्रियाँ सन्मार्ग की ओर भी ले जा सकती हैं, उनमें सद्‌गुण भी हो सकते हैं, वे कर्तव्य और सेवा के भावों को जाग्रत् भी कर सकती हैं। तब उनके मन में प्रश्न उठता, यदि आनंदी से मेरा विवाह होता, तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी। उसके साथ तो मेरा जीवन बड़े आनंद से कट जाता।

एक दिन वह आनंदी के यहाँ गए, तो सिर में दर्द हो रहा था। कुछ लिखने की इच्छा न हुई। आनंदी को इसका कारण मालूम हुआ, तो उसने उनके सिर में धीरे-धीरे तेल मलना शुरू किया। गोपीनाथ को उस समय अलौकिक सुख मिल रहा था। मन में

प्रेम की तरंगें उठ रही थीं—नेत्र, मुख, वाणी—सभी प्रेम में पगे जाते थे। उसी दिन से उन्होंने आनंदी के यहाँ आना छोड़ दिया। एक सप्ताह बीत गया, और न आए। आनंदी ने लिखा, आपसे पाठशाला-संबंधी कई विषयों में राय लेनी है। अवश्य आइए। तब भी न गए। उसने फिर लिखा, मालूम होता है, आप मुझसे नाराज़ हैं। मैंने जान-बूझकर तो कोई ऐसा काम नहीं किया, लेकिन यदि वास्तव में आप नाराज़ हैं, तो मैं यहाँ रहना उचित नहीं समझती। अगर आप अब भी न आवेंगे, तो मैं द्वितीय अध्यापिका को चार्ज देकर चली जाऊँगी। गोपीनाथ पर इस धमकी का कुछ भी असर न हुआ। अब भी न गए। अंत में दो महीने तक खिंचे रहने के बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि आनंदी बीमार है, और दो दिन से पाठशाला नहीं आ सकी। तब वह किसी तर्क या युक्ति से अपने को न रोक सके। पाठशाला में आए, और कुछ झिझकते, कुछ सकुचाते, आनंदी के कमरे में क़दम रक्खा। देखा, तो वह चुप-चाप पड़ी हुई थी। मुख पीला था, शरीर घुल गया था, उसने उनकी ओर दया-प्रार्थी नेत्रों से देखा। उठना चाहा, पर अशक्ति ने उठने न दिया। गोपीनाथ ने आर्द्र कंठ से कहा—"लेटी रहो, लेटी रहो, उठने की ज़रूरत नहीं, मैं बैठ जाता हूँ। डॉक्टर साहब आए थे?"

मिश्राइन ने कहा—"जी हाँ, दो बार आए थे। दवा दे गए हैं।"

गोपीनाथ ने नुसख़ा देखा। डॉक्टरी का साधारण ज्ञान था। नुसख़े से ज्ञात हुआ, हृद्‌रोग है। ओषधियाँ सभी पुष्टिकर और बलवर्धक थीं। आनंदी की ओर फिर देखा। उसकी आँखों से अश्रु-धारा बह रही थी। उनका गला भी भर आया। हृदय मसोसने लगा। गद्‌गद होकर बोले—"आनंदी, तुमने मुझे पहले इसकी सूचना न दी, नहीं तो रोग इतना न बढ़ने पाता।"

आनंदी—"कोई बात नहीं, अच्छी हो जाऊँगी, जल्द ही अच्छी

हो जाऊँगी। मर भी जाऊँगी, तो कौन रोनेवाला बैठा हुआ है।" यह कहते-कहते वह फूट-फूटकर रोने लगी।

गोपीनाथ दार्शनिक थे, पर अभी तक उनके मन के कोमल भाव शिथिल न हुए थे। कंपित स्वर से बोले—"आनंदी, संसार में कम-से-कम एक ऐसा आदमी है, जो तुम्हारे लिये अपने प्राण तक दे देगा।" यह कहते-कहते वह रुक गए। उन्हें अपने शब्द और भाव कुछ भद्दे और उच्छृंखल-से जान पड़े। अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिये वह इन सार-हीन शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक काव्यमय, रस-पूर्ण, अनुरक्त शब्दों का व्यवहार करना चाहते थे, पर इस वक़्त याद न पड़े।

आनंदी ने पुलकित होकर कहा—"दो महीने तक किस पर छोड़ दिया था ?"

गोपीनाथ—"इन दो महीनों में मेरी जो दशा थी, यह मैं ही जानता हूँ। यही समझ लो कि मैंने आत्महत्या नहीं की, यही बड़ा आश्चर्य है। मैंने न समझा था कि अपने व्रत पर स्थिर रहना मेरे लिये कितना कठिन हो जायगा।"

आनंदी ने गोपीनाथ का हाथ धीरे से अपने हाथ में लेकर कहा—"अब तो कभी इतनी कठोरता न कीजिएगा ?"

गोपीनाथ—(संकुचित होकर) "अंत क्या है ?"

आनंदी—"कुछ भी हो !"

गोपीनाथ—"कुछ भी हो ?"

आनंदी—"हाँ, कुछ भी हो।"

गोपीनाथ—"अपमान, निंदा, उपहास, आत्मवेदना !"

आनंदी—"कुछ भी हो, मैं सब कुछ सह सकती हूँ, और आपको भी मेरे हेतु सहना पड़ेगा।"

गोपीनाथ—"आनंदी, मैं अपने को प्रेम पर बलिदान कर सकता

हूँ, लेकिन अपने नाम को नहीं। इस नाम को अकलंकित रखकर मैं समाज की बहुत कुछ सेवा कर सकता हूँ।"

आनंदी—"न कीजिए। आपने सब कुछ त्यागकर यह कीर्ति प्राप्त की है, मैं आपके यश को नहीं मिटाना चाहती। (गोपीनाथ का हाथ हृदय-स्थल पर रखकर) इसको चाहती हूँ। इससे अधिक त्याग की आकांक्षा नहीं रखती।"

गोपीनाथ—"दोनो बातें एक साथ संभव हैं?"

आनंदी—"संभव हैं। मेरे लिये संभव है। मैं प्रेम पर अपनी आत्मा को भी न्योछावर कर सकती हूँ।"

(५)

इसके पश्चात् लाला गोपीनाथ ने आनंदी की बुराई करनी शुरू की। मित्रों से कहते, उनका जी अब काम में नहीं लगता। पहले की-सी तनदेही नहीं है। किसी से कहते, उनका जी अब यहाँ से उचाट हो गया है, अपने घर जाना चाहती हैं, उनकी इच्छा है कि मुझे प्रतिवर्ष तरक़्क़ी मिला करे, और इसकी यहाँ गुंजाइश नहीं। पाठशाला कई बार देखी, और अपनी आलोचना में काम को असंतोष-जनक लिखा। शिक्षा, संगठन, उत्साह, सुप्रबंध सभी बातों में निराशा-जनक क्षति पाई। वार्षिक अधिवेशन में जब कई सदस्यों ने आनंदी की वेतन-वृद्धि का प्रस्ताव उपस्थित किया, तो लाला गोपीनाथ ने उसका विरोध किया। उधर आनंदीबाई भी गोपीनाथ के दुखड़े रोने लगी। 'यह मनुष्य नहीं हैं, पत्थर के देवता हैं। इन्हें प्रसन्न करना दुस्तर है, अच्छा ही हुआ कि उन्होंने विवाह नहीं किया, नहीं तो दुखिया इनके नख़रे उठाते-उठाते सिधार जाती। कहाँ तक कोई सफ़ाई और सुप्रबंध पर ध्यान दे। दीवार पर एक धब्बा भी पड़ गया, किसी कोने-खुतरे में एक जाला भी लग गया, बरामदों में काग़ज़ का एक टुकड़ा भी पड़ा मिल गया, तो आपकी

त्योरियाँ बदल जाती हैं। दो साल मैंने ज्यों-त्यों करके निबाहे। लेकिन देखती हूँ, तो लाला साहब की निगाह दिनोंदिन कड़ी होती जाती है। ऐसी दशा में मैं यहाँ अधिक नहीं ठहर सकती। मेरे लिये नौकरी कल्याण नहीं है, जब जी चाहेगा, उठ खड़ी होऊँगी। यहाँ आप लोगों से मेल-मुहब्बत हो गई है, कन्याओं से ऐसा प्यार हो गया है कि छोड़कर जाने का जी नहीं चाहता।' आश्चर्य यह था कि और किसी को पाठशाला की दशा में अवनति न दिखलाई देती थी, वरन् हालत पहले से अच्छी थी।

एक दिन पंडित अमरनाथ की लालाजी से भेंट हो गई। उन्होंने पूछा—"कहिए, पाठशाला खूब चल रही है न ?"

गोपीनाथ—"कुछ न पूछिए। दिनोंदिन दशा गिरती जाती है।"

अमरनाथ—"आनंदीबाई की ओर से ढील है क्या ?"

गोपीनाथ—"जी हाँ, सरासर। अब काम करने में उनका जी ही नहीं लगता। बैठी हुई योग और ज्ञान के ग्रंथ पढ़ा करती हैं। कुछ कहता हूँ, तो कहती हैं—'मैं अब इससे और अधिक कुछ नहीं कर सकती। कुछ परलोक की भी चिंता करूँ कि चौबीसो घंटे पेट के धंधों ही में लगी रहूँ। पेट के लिये पाँच घंटे बहुत हैं। यहाँ आकर मैंने अपना स्वास्थ्य खो दिया। एक बार कठिन रोग में ग्रस्त हो गई, क्या कमेटी ने मेरी दवा-दारू का ख़र्च दे दिया ? कोई बात पूछने भी आया ? फिर अपनी जान क्यों दूँ।' सुना है, घरों में मेरी बद-गोई भी किया करती हैं।"

अमरनाथ मार्मिक भाव से बोले—"ये बातें मुझे पहले ही मालूम थीं।"

दो साल और गुज़र गए। रात का समय था। कन्या-पाठ-शाला के ऊपरवाले कमरे में लाला गोपीनाथ मेज़ के सामने कुरसी पर बैठे हुए थे। सामने आनंदी कोच पर लेटी हुई थी।

उसका मुख बहुत म्लान हो रहा था। कई मिनट तक दोनो विचार में मग्न थे। अंत में गोपीनाथ बोले—"मैंने पहले ही महीने में तुमसे कहा था कि मथुरा चली जाओ।"

आनंदी—"वहाँ दस महीने क्योंकर रहती। मेरे पास इतने रुपए कहाँ थे, और न तुम्हीं ने कोई प्रबंध करने का आश्वासन दिया। मैंने सोचा, तीन-चार महीने यहाँ और रहूँ, तब तक किफ़ायत करके कुछ बचा लूँगी, और तुम्हारी किताब से भी कुछ रुपए मिल जायँगे। तब मथुरा चली जाऊँगी। मगर यह क्या मालूम था कि बीमारी भी इसी अवसर की ताक में बैठी हुई है। मेरी दशा दो-चार दिन के लिये भी सभली, और मैं चली। इस दशा में तो मेरे लिये यात्रा करना असंभव है।"

गोपीनाथ—"मुझे भय है कि कहीं बीमारी तूल न खींचे। संग्रहणी असाध्य रोग है। महीने-दो महीने यहाँ और रहने पड़ गए, तो बात खुल जायगी।"

आनंदी—(चिढ़कर) "खुल जायगी, खुल जाय। अब इससे कहाँ तक डरूँ।"

गोपीनाथ—"मैं भी न डरता, अगर मेरे कारण नगर की कई संस्थाओं का जीवन संकट में न पड़ जाता। इसीलिये मैं बदनामी से डरता हूँ। समाज के ये बंधन निरे पाखंड हैं। मैं उन्हें संपूर्णतः अन्याय समझता हूँ। इस विषय में तुम मेरे विचारों को भली भाँति जानती हो, पर करूँ क्या। दुर्भाग्य-वश मैंने जाति-सेवा का भार अपने ऊपर ले लिया है। उसी का फल है कि आज मुझे अपने माने हुए सिद्धांतों को तोड़ना पड़ रहा है और जो वस्तु मुझे प्राणों से भी प्रिय है, उसे यों निर्वासित करने पर मजबूर हो रहा हूँ।"

किंतु आनंदी की दशा सँभलने की जगह दिनोंदिन गिरती ही गई। कमज़ोरी से उठना-बैठना कठिन हो गया। किसी वैद्य या

की संख्या कम न थी। पंडित अमरनाथ उनके मुखिया थे। उन लोगों ने लालाजी की निंदा करनी शुरू की। जहाँ देखिए, वहीं दो-चार सज्जन बैठे गोपनीय भाव से इसी घटना की आलोचना करते नज़र आते थे। कोई कहता था, इस स्त्री के लक्षण पहले ही से विदित हो रहे थे। अधिकांश आदमियों की राय में गोपीनाथ ने यह बुरा किया। यदि ऐसा ही प्रेम ने ज़ोर मारा था, तो उन्हें निडर होकर विवाह कर लेना चाहिए था। यह काम गोपीनाथ का है, इसमें किसी को भ्रम न था। केवल कुशल-समाचार पूछने के बहाने लोग उनके घर जाते और दो-चार अन्योक्तियाँ सुनाकर चले आते थे। इसके विरुद्ध आनंदी पर लोगों को दया आती थी। पर लालाजी के ऐसे भक्त भी थे, जो लालाजी के माथे यह कलंक मढ़ना पाप समझते थे। गोपीनाथ ने स्वयं मौन धारण कर लिया था! सबकी भली-बुरी बातें सुनते थे, पर मुँह न खोलते थे। इतनी हिम्मत न थी कि सबसे मिलना छोड़ दें।

प्रश्न था, अब क्या हो। आनंदीबाई के विषय में तो जनता ने फ़ैसला कर दिया। बहस यह थी कि गोपीनाथ के साथ क्या व्यवहार किया जाय। कोई कहता था, उन्होंने जो कुकर्म किया है, उसका फल भोगें। आनंदीबाई को नियमित रूप से घर में रक्खें। कोई कहता, हमें इससे क्या मतलब, आनंदी जाने, और वह जानें, दोनो जैसे-के-तैसे हैं, 'जैसे उदई वैसे भान, न उनके चोटी, न उनके कान।' लेकिन इन महाशय को पाठशाला के अंदर अब क़दम न रखने देना चाहिए। जनता के फ़ैसले साक्षी नहीं खोजते। अनुमान ही इसके लिये सबसे बड़ी गवाही है।

लेकिन पंडित अमरनाथ और उनकी गोष्ठी के लोग गोपीनाथ को इतने सस्ते न छोड़ना चाहते थे। उन्हें गोपीनाथ से पुराना द्वेष था। यह कल का लौंडा, दर्शन की दो-चार पुस्तकें उलट-पलटकर, राज-

नीति में कुछ शुदबुद करके, लीडर बना हुआ विचरे, सुनहरी ऐनक लगाए, रेशमी चादर गले में डाले यों गर्व से ताके, मानो सत्य और प्रेम का पुतला है ! ऐसे रँगे-सियारों की जितनी क़लई खोली जाय, उतना ही अच्छा। जाति को ऐसे दग़ाबाज़, चरित्र-हीन, दुर्बलात्मा सेवकों से सचेत कर देना चाहिए। पंडित अमरनाथ पाठशाला की अध्यापिकाओं और नौकरों से तहक़ीक़ात करते थे। लालाजी कब आते थे, कब जाते थे, कितनी देर रहते थे, यहाँ क्या किया करते थे, तुम लोग उनकी उपस्थिति में वहाँ जाने पाते थे या रोक थी। लेकिन ये छोटे-छोटे आदमी, जिन्हें गोपीनाथ से संतुष्ट रहने का कोई कारण न था (उनकी सख़्ती की नौकर लोग बहुत शिकायत किया करते थे), इस दुरवस्था में उनके ऐबों पर परदा डालने लगे। अमरनाथ ने बहुत प्रलोभन दिया, डराया, धमकाया, पर किसी ने भी गोपीनाथ के विरुद्ध साक्षी न दी।

उधर लाला गोपीनाथ ने उसी दिन से आनंदी के घर आना-जाना छोड़ दिया। दो हफ़्ते तक तो वह अभागिनी किसी तरह कन्या-पाठशाला में रही। पंद्रहवें दिन प्रबंधक-समिति ने उसे मकान ख़ाली कर देने का नोटिस दे दिया। महीने-भर की मुहलत देना भी उचित न समझा। अब वह दुखिया एक तंग मकान में रहने लगी, कोई पूछनेवाला न था। बच्चा कमज़ोर, ख़ुद बीमार, न कोई आगे न पीछे, न कोई दुःख का संगी न साथी, शिशु को गोद में लिए दिन के दिन बेदाना-पानी पड़ी रहती थी। एक बुढ़िया महरी मिल गई थी, जो बर्तन धोकर चली जाती थी। कभी-कभी शिशु को छाती से लगाए रात-की-रात रह जाती थी। पर धन्य है उसके धैर्य और संतोष को ! लाला गोपीनाथ से न मुँह में कोई शिकायत थी, न दिल में। सोचती, इन परिस्थितियों में उन्हें मुझसे नाराज़ ही रहना चाहिए। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं। उनके

बदनाम होने से नगर की कितनी बड़ी हानि होती। सभी उन पर संदेह करते हैं, पर किसी को यह साहस तो नहीं हो सकता कि उनके विपक्ष में कोई प्रमाण दे सके।

यह सोचते हुए उसने स्वामी अभेदानंद की एक पुस्तक उठाई, और उसके एक अध्याय का अनुवाद करने लगी। अब उसकी जीविका का एकमात्र यही आधार था। सहसा किसी ने धीरे से द्वार खटखटाया। वह चौंक पड़ी। लाला गोपीनाथ की आवाज़ मालूम हुई। उसने तुरंत द्वार खोल दिया। गोपीनाथ आकर खड़े हो गए, और सोते हुए बालक को प्यार से देखकर बोले—"आनंदी, मैं तुम्हें मुँह दिखाने लायक़ नहीं हूँ। मैं अपनी भीरुता और नैतिक दुर्बलता पर अत्यंत लज्जित हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरी बदनामी जो कुछ होनी थी, वह हो चुकी। मेरे नाम से चलनेवाली संस्थाओं को जो हानि पहुँचनी थी, पहुँच चुकी, अब असंभव है कि मैं जनता को अपना मुँह फिर दिखाऊँ, और न वह मुझ पर विश्वास ही कर सकती है, इतना जानते हुए भी मुझमें इतना साहस नहीं कि अपने कुकृत्य का भार अपने सिर ले लूँ। मैं पहले सामाजिक शासन की रत्ती-भर परवा न करता था। पर अब पग-पग पर उसके भय से मेरे प्राण काँपने लगते हैं। धिक्कार है मुझ पर कि मेरे कारण तुम्हारे ऊपर ऐसी-ऐसी विपत्तियाँ पड़ीं। लोक निंदा, रोग, शोक, निर्धनता, सभी का सामना करना पड़ा, और मैं यों अलग-अलग रहा, मानो मुझसे कोई प्रयोजन ही नहीं। पर मेरा हृदय ही जानता है कि मुझे उसकी कितनी पीड़ा होती थी। कितनी ही बार इधर आने का निश्चय किया, और फिर हिम्मत हार गया। अब मुझे विदित हो गया कि मेरी सारी दार्शनिकता केवल हाथी का दाँत थी। मुझमें क्रिया-शक्ति नहीं है। लेकिन इसके साथ ही तुमसे अलग रहना मेरे लिये असह्य

है। तुमसे दूर रहकर मैं ज़िंदा नहीं रह सकता। प्यारे बच्चे को देखने के लिये मैं कितनी ही बार लालायित हो गया हूँ। पर यह आशा कैसे करूँ कि मेरी चरित्र-हीनता का ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण पाने के बाद तुम्हें मुझसे घृणा न हो गई होगी।"

आनंदी—"स्वामी, आपके मन में ऐसी बातों का आना मुझ पर घोर अन्याय है। मैं ऐसी बुद्धि-हीन नहीं हूँ कि केवल अपने स्वार्थ के लिये आपको कलंकित करूँ। मैं आपको अपना इष्टदेव समझती हूँ, और सदैव समझूँगी। मैं भी अब आपके वियोग-दुःख को नहीं सह सकती। कभी-कभी आपके दर्शन पाती रहूँ, यही जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा है।"

इस घटना को पंद्रह वर्ष बीत गए हैं। लाला गोपीनाथ नित्य बारह बजे रात को आनंदी के साथ बैठे हुए नज़र आते हैं। वह नाम पर मरते हैं, आनंदी प्रेम पर। बदनाम दोनो हैं, लेकिन आनंदी के साथ लोगों की सहानुभूति है, गोपीनाथ सब की निगाह से गिर गए हैं। हाँ, उनके कुछ आत्मीयगण इस घटना को केवल मानुषीय समझकर अब भी उनका सम्मान करते हैं, किंतु जनता इतनी सहिष्णु नहीं है।

मृत्यु के पीछे

(१)

बाबू ईश्वरचंद्र को समाचार-पत्रों में लेख लिखने की चाट उन्हीं दिनों पड़ी, जब वह विद्याभ्यास कर रहे थे। नित्य नए विषयों की चिंता में लीन रहते। पत्रों में अपना नाम देखकर उन्हें इससे कहीं ज़्यादा ख़ुशी होती थी, जितनी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने या कक्षा में उच्च स्थान प्राप्त करने से। वह अपने कॉलेज के 'गरम दल' के नेता थे। समाचार-पत्रों में परीक्षा-पत्रों की जटिलता या अध्यापकों के अनुचित व्यवहार की शिकायत का भार उन्हीं के सिर था। इससे उन्हें कॉलेज में नेतृत्व का पद मिल गया था। प्रतिरोध के प्रत्येक अवसर पर उन्हीं के नाम नेतृत्व की गोटी पड़ जाती थी। उन्हें विश्वास हो गया था कि मैं इस परिमित क्षेत्र से निकलकर संसार के विस्तृत क्षेत्र में अधिक सफल हो सकता हूँ। सार्वजनिक जीवन को वह अपना भाग्य समझ बैठे थे। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि अभी एम्० ए० के परीक्षार्थियों में उनका नाम निकलने भी न पाया था कि 'गौरव' के संपादक महोदय ने वानप्रस्थ लेने की ठानी, और पत्रिका का भार ईश्वरचंद्र दत्त के सिर पर रखने का निश्चय किया। बाबूजी को यह समाचार मिला, तो उछल पड़े। धन्य भाग्य कि मैं इस सम्मान-पद के योग्य समझा गया! इसमें संदेह नहीं कि वह इस दायित्व के गुरुत्व से भली भाँति परिचित थे, लेकिन कीर्ति-लाभ के प्रेम ने उन्हें बाधक परिस्थितियों का सामना करने पर उद्यत कर दिया। वह इस व्यवसाय में स्वातंत्र्य, आत्मगौरव, अनुशीलन और दायित्व की मात्रा को बढ़ाना चाहते थे। भारतीय पत्रों को पश्चिम के आदर्श पर लाने के इच्छुक थे।

इन इरादों के पूरा करने का सुअवसर हाथ आया। वह प्रेमोल्लास से उत्तेजित होकर नदी में कूद पड़े।

(२)

ईश्वरचंद्र की पत्नी एक ऊँचे और धनाढ्य-कुल की लड़की थी, और ऐसे कुलों की मर्यादप्रियता तथा मिथ्या गौरव-प्रेम से संपन्न थी। यह समाचार पाकर डरी कि पति महाशय कहीं इस झंझट में फँसकर क़ानून से मुँह न मोड़ लें। लेकिन जब बाबू साहब ने आश्वासन दिया कि यह कार्य उनके क़ानून के अभ्यास में बाधक न होगा, तो कुछ न बोली।

लेकिन ईश्वरचंद्र को बहुत जल्द मालूम हो गया कि पत्र-संपादन एक बहुत ही ईर्ष्या-युक्त कार्य है, जो चित्त की समग्र वृत्तियों का अपहरण कर लेता है। उन्होंने इसे मनोरंजन का एक साधन और ख्याति-लाभ का एक यंत्र समझा था—उसके द्वारा जाति की कुछ सेवा करनी चाहते थे। उससे द्रव्योपार्जन का विचार तक न किया था। लेकिन नौका में बैठकर उन्हें अनुभव हुआ कि यात्रा उतनी सुखद नहीं, जितनी समझी थी। लेखों के संशोधन, परिवर्जन और परिवर्तन, लेखकगण से पत्र-व्यवहार, और चित्ताकर्षक विषयों की खोज और सहयोगियों से आगे बढ़ जाने की चिंता में उन्हें क़ानून के अध्ययन करने का अवकाश ही न मिलता था। सुबह किताबें खोलकर बैठते कि सौ पृष्ठ समाप्त किए बिना कदापि न उठूँगा, किंतु ज्यों ही डाक का पुलिंदा आ जाता, वह अधीर होकर उस पर टूट पड़ते, किताब खुली-की-खुली रह जाती थी। वारंवार संकल्प करते कि अब नियमित रूप से पुस्तकावलोकन करूँगा, और एक निर्दिष्ट समय से अधिक संपादन कार्य में न लगाऊँगा। लेकिन पत्र-पत्रिकाओं का बंडल सामने आते ही दिल क़ाबू के बाहर हो जाता। पत्रों की नोक-झोंक,

मैं खूब रोया, क्योंकि यह मेरा देश न था। यह वह देश न था, जिसके दर्शनों की इच्छा सदा मेरे हृदय में लहराया करती थी। यह तो कोई और देश था। यह अमेरिका या इँगलैंड था, मगर प्यारा भारत नहीं।

रेलगाड़ी जंगलों, पहाड़ों, नदियों और मैदानों को पार करती हुई मेरे प्यारे गाँव के निकट पहुँची, जो किसी समय फूल, पत्तों और फलों की बहुतायत तथा नदी-नालों की अधिकता से स्वर्ग को मात कर रहा था। मैं जब गाड़ी से उतरा, तो मेरा हृदय बाँसों उछल रहा था। अब अपना प्यारा घर देखूँगा—अपने बालपन के प्यारे साथियों से मिलूँगा। मैं इस समय बिलकुल भूल गया था कि मैं ९० वर्ष का बूढ़ा हूँ। ज्यों-ज्यों मैं गाँव के निकट आता था, मेरे पग तेज़ होते जाते थे, और हृदय में अकथनीय आनंद का स्रोत उमड़ रहा था। प्रत्येक वस्तु पर आँखें फाड़-फाड़कर दृष्टि डालता। आह! यह वही नाला है, जिसमें हम रोज़ घोड़े नहलाते थे और स्वय भी डुबकियाँ लगाते। किंतु अब उसके दोनो ओर काँटेदार तार लगे हुए थे, और सामने एक बँगला था, जिसमें दो अँगरेज़ बंदूकें लिए इधर-उधर ताक रहे थे। नाले में नहाने की सख्त मनाही थी।

गाँव में गया, और निगाहें बालपन के साथियों को खोजने लगीं; किंतु शोक! वे सब-के-सब मृत्यु के ग्रास हो चुके थे। मेरा घर—मेरा टूटा-फूटा झोपड़ा—जिसकी गोद में मैं बरसों खेला था, जहाँ बचपन और बेफ़िक्री के आनंद लूटे थे, और जिनका चित्र अभी तक मेरी आँखों में फिर रहा था, वही मेरा प्यारा घर अब मिट्टी का ढेर हो गया था।

(३)

यह स्थान ग़ैर-आबाद न था। सैकड़ों आदमी चलते-फिरते

नज़र आते थे, जो अदालत-कचहरी और थाना-पुलिस की बातें कर रहे थे। उनके मुखों से चिंता, निर्जीवता और उदासी प्रदर्शित होती थी। सब सांसारिक चिंताओं से व्यथित मालूम होते थे। मेरे साथियों के समान हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, लाल चेहरेवाले नवयुवक कहीं न देख पड़ते थे। उस अखाड़े के स्थान पर, जिसकी जड़ मेरे हाथों ने डाली थी, अब एक टूटा-फूटा स्कूल था। उसमें दुर्बल, कांति-हीन, रोगियों की-सी सूरतवाले बालक, फटे कपड़े पहने, बैठे ऊँघ रहे थे। उनको देखकर सहसा मेरे मुख से निकल पड़ा—"नहीं-नहीं, यह मेरा प्यारा देश नहीं है। यह देश देखने मैं इतनी दूर से नहीं आया हूँ—यह मेरा प्यारा भारतवर्ष नहीं है।"

बरगद के पेड़ की ओर दौड़ा, जिसकी सुहावनी छाया में मैंने बचपन के आनंद उड़ाए थे, जो हमारे छुटपन का क्रीड़ा-स्थल और युवावस्था का सुखप्रद कुंज था। आह! इस प्यारे बरगद को देखते ही हृदय पर एक बड़ा आघात पहुँचा, और दिल में महान् शोक उत्पन्न हुआ। उसे देखकर ऐसी-ऐसी दुःख-दायक तथा हृदय-विदारक स्मृतियाँ ताज़ी हो गईं कि घंटों पृथ्वी पर बैठे-बैठे मैं आँसू बहाता रहा। हा! यही बरगद है, जिसकी डालों पर चढ़कर मैं फुनगियों तक पहुँचता था, जिसकी जटाएँ हमारा झूला थीं, और जिसके फल हमें सारे संसार की मिठाइयों से अधिक स्वादिष्ठ मालूम होते थे। मेरे गले में बाँहें डालकर खेलनेवाले लँगोटिए यार, जो कभी रूठते थे, कभी मनाते थे, कहाँ गए? हाय, मैं बिना घर-बार का मुसाफ़िर, अब क्या अकेला ही हूँ? क्या मेरा कोई भी साथी नहीं? इस बरगद के निकट अब थाना था, और बरगद के नीचे कोई लाल साफ़ा बाँधे बैठा था। उसके आस-पास दस-बीस लाल पगड़ीवाले

आदमी करबद्ध खड़े थे। वहाँ फटे-पुराने कपड़े पहने एक दुर्भिक्ष-ग्रस्त पुरुष, जिस पर अभी चाबुकों की बौछार हुई थी, पड़ा सिसक रहा था। मुझे ध्यान आया कि यह मेरा प्यारा देश नहीं है, यह कोई और देश है। यह योरप है, अमेरिका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है—कदापि नहीं।

इधर से निराश होकर मैं उस चौपाल की ओर चला, जहाँ शाम के वक्त पिताजी गाँव के अन्य बुज़ुर्गों के साथ हुक्का पीते और हँसी-क़हक़हे उड़ाते थे। हम भी उस टाट के बिछौने पर कलाबाज़ियाँ खाया करते थे। कभी-कभी वहाँ पंचायत भी बैठती थी, जिसके सरपंच सदा पिताजी ही हुआ करते थे। इसी चौपाल के पास एक गोशाला थी, जहाँ गाँव-भर की गाएँ रक्खी जाती थीं, और बछड़ों के साथ हम यहीं कलोलें किया करते थे। शोक! अब उस चौपाल का पता तक न था! वहाँ अब गाँवों में टीका लगाने की चौकी और डाकखाना था।

उस समय इसी चौपाल से लगा एक कोल्हवाड़ा था, जहाँ जाड़े के दिनों में ईख पेरी जाती थी, और गुड़ की सुगंध से चित्त प्रसन्न हो जाता था। हम और हमारे साथी गँडेरियों के लिये वहाँ बैठे रहते और गँडेरियाँ कतरनेवाले मज़दूरों के हस्त-लाघव को देखकर आश्चर्य किया करते थे। वहाँ हज़ारों बार मैंने कच्चा रस और पक्का दूध मिलाकर पिया था। आस-पास के घरों की स्त्रियाँ और बालक अपने-अपने घड़े लेकर वहाँ आते थे, और उनमें रस भरकर ले जाते थे। शोक है कि वे कोल्हू अब तक ज्यों-के-त्यों खड़े थे, किंतु कोल्हवाड़े की जगह पर अब एक सन लपेटनेवाली मशीन लगी थी, और उसके सामने एक तंबोली और सिगरेटवाले की दूकान थी। इन हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर मैंने एक आदमी से, जो देखने में सभ्य मालूम होता था, पूछा—"महाशय,

मैं एक परदेसी यात्री हूँ, रात-भर लेट रहने की मुझे आज्ञा दीजिएगा ?" इस आदमी ने मुझे सिर से पैर तक गहरी दृष्टि से देखा, और बोला—"आगे जाओ, यहाँ जगह नहीं है।" मैं आगे गया, और वहाँ भी यही उत्तर मिला। पाँचवीं बार एक सज्जन से स्थान माँगने पर उन्होंने एक मुट्ठी चने मेरे हाथ पर रख दिए। चने मेरे हाथ से छूट पड़े, और नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी। मुख से सहसा निकल पड़ा—"हाय, यह मेरा देश नहीं है; यह कोई और देश है। यह हमारा अतिथि-सत्कारी प्यारा भारत नहीं है—कदापि नहीं है।"

मैंने एक सिगरेट की डिबिया ख़रीदी और एक सुनसान जगह पर बैठकर सिगरेट पीते हुए पूर्व-समय की याद करने लगा। अचानक मुझे धर्मशाला का स्मरण हो आया, जो मेरे विदेश जाते समय बन रही थी। मैं उस ओर लपका कि रात किसी प्रकार वहीं काट लूँ, मगर शोक! शोक!! महान् शोक!!! धर्मशाला ज्यों-की-त्यों खड़ी थी, किंतु उसमें ग़रीब यात्रियों के टिकने के लिये स्थान न था। मदिरा, दुराचार और जुए ने उसे अपना घर बना रक्खा था। यह दशा देखकर विवशतः मेरे हृदय से एक सर्द आह निकल पड़ी, और मैं ज़ोर से चिल्ला उठा—"नहीं, नहीं, नहीं और हज़ार बार नहीं है—यह मेरा प्यारा भारत नहीं। यह कोई और देश है। यह योरप है, अमेरिका है, मगर भारत कदापि नहीं है।"

(४)

अँधेरी रात थी। गीदड़ और कुत्ते अपने कर्कश स्वर में गीत गा रहे थे। मैं अपना दुःखित हृदय लेकर, उसी नाले के किनारे जाकर बैठ गया, और सोचने लगा—अब क्या करूँ? क्या फिर अपने पुत्रों के पास लौट जाऊँ, और अपना यह शरीर अमेरिका की मिट्टी में मिलाऊँ? अब तक मेरी मातृभूमि थी; मैं विदेश में ज़रूर था,

किंतु मुझे अपने प्यारे देश की याद बनी थी, पर अब मैं देश-विहीन हूँ। मेरा कोई देश नहीं है। इसी सोच-विचार में मैं बहुत देर तक घुटनों पर सिर रक्खे मौन बैठा रहा। रात्रि नेत्रों में ही व्यतीत की। सहसा घंटेवाले ने तीन बजाए, और किसी के गाने का शब्द कानों में आया। हृदय गद्गद हो गया! यह तो देश का ही राग है, यह तो मातृभूमि का ही स्वर है! मैं तुरंत उठ खड़ा हुआ, और क्या देखता हूँ कि १५-२० वृद्धा स्त्रियाँ, सफ़ेद धोतियाँ पहने, हाथों में लोटे लिए स्नान को जा रही हैं और गाती जाती हैं—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—"

मैं इस गीत को सुनकर तन्मय हो ही रहा था कि इतने में मुझे बहुत आदमियों का बोलचाल सुन पड़ा। उनमें से कुछ लोग हाथों में पीतल के कमंडलु लिए हुए शिव-शिव, हर-हर, गंगे-गंगे, नारायण-नारायण आदि शब्द बोलते हुए चले जाते थे। मधुर, भावमय और प्रभावोत्पादक राग से मेरे हृदय पर जो प्रभाव हुआ, उसका वर्णन करना कठिन है।

मैंने अमेरिका की रमणियों का अलाप सुना था, सहस्रों बार उनकी जिह्वा से प्रेम और प्यार के शब्द सुने थे, उनके हृदयाकर्षक वचनों का आनंद उठाया था, मैंने सुरीले पक्षियों का चहचहाना भी सुना था, किंतु जो आनंद, जो मज़ा और जो सुख मुझे इस राग में आया, वह मुझे जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुआ था। मैंने खुद गुनगुनाकर गाया—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—"

मेरे हृदय में फिर उत्साह आया कि ये तो मेरे प्यारे देश की ही बातें हैं। आनंदातिरेक से मेरा हृदय आनंदमय हो गया। मैं भी इन आदमियों के साथ हो लिया, और ६ मील तक पहाड़ी मार्ग पार करके उसी नदी के किनारे पहुँचा, जिसका नाम पतित-पावनी

है, जिसकी लहरों में डुबकी लगाना और जिसकी गोद में मरना प्रत्येक हिंदू अपना परम सौभाग्य समझता है। पतित-पावनी भागीरथी गंगा मेरे प्यारे गाँव से छ-सात मील पर बहती थीं। किसी समय मैं घोड़े पर चढ़कर नित्य स्नान करने जाता था। गंगामाता के दर्शनों की लालसा मेरे हृदय में सदा रहती थी। यहाँ मैंने हज़ारों मनुष्यों को इस ठंडे पानी में डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ लोग बालू पर बैठे गायत्री-मंत्र जप रहे थे। कुछ लोग हवन करने में संलग्न थे। कुछ माथे पर तिलक लगा रहे थे, और कुछ लोग सस्वर वेद-मंत्र पढ़ रहे थे। मेरा हृदय फिर उत्साहित हुआ, और मैं ज़ोर से कह उठा—"हाँ, हाँ, यही मेरा प्यारा देश है, यही मेरी पवित्र मातृभूमि है, यही मेरा सर्वश्रेष्ठ भारत है, और इसी के दर्शनों की मेरी उत्कट इच्छा थी! इसी की पवित्र धूलि के कण बनने की मेरी प्रबल अभिलाषा है।"

(५)

मैं विशेष आनंद में मग्न था। मैंने अपना पुराना कोट और पतलून उतारकर फेंक दिया, और गंगामाता की गोद में जा गिरा, जैसे कोई भोला-भाला बालक दिन-भर निर्दय लोगों के साथ रहने के बाद संध्या को अपनी प्यारी माता की गोद में दौड़कर चला आए, और उसकी छाती से चिपट जाय। हाँ, अब मैं अपने देश में हूँ। यह मेरी प्यारी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं, और गंगा मेरी माता है।

मैंने ठीक गंगा के किनारे एक छोटी-सी कुटी बनवा ली है। अब मुझे सिवा राम-नाम जपने के और कोई काम नहीं है। मैं नित्य प्रातः-सायं गंगा-स्नान करता हूँ, और मेरी प्रबल इच्छा है कि इसी स्थान पर मेरे प्राण निकलें, और मेरी अस्थियाँ गंगा-माता की लहरों की भेंट हों।

मेरी स्त्री और मेरे पुत्र बार-बार बुलाते हैं, मगर अब मैं यह गंगामाता का तट और अपना प्यारा देश छोड़कर वहाँ नहीं जा सकता। मैं अपनी मिट्टी गंगाजी को ही सौंपूँगा। अब संसार की कोई आकांक्षा मुझे इस स्थान से नहीं हटा सकती, क्योंकि यह मेरा प्यारा देश और यही प्यारी मातृभूमि है। बस, मेरी उत्कट इच्छा यही है कि मैं अपनी प्यारी मातृभूमि में ही अपने प्राण विसर्जन करूँ।

लाग-डाट

(१)

जोखू भगत और बेचन चौधरी में तीन पीढ़ियों से अदावत चली आती थी। कुछ डाँड़-मेंड़ का झगड़ा था। उनके परदादों में कई बार ख़ून-ख़च्चर हुआ। बापों के समय से मुक़दमेबाज़ी शुरू हुई। दोनो कई बार हाईकोर्ट तक गए। लड़कों के समय में संग्राम की भीषणता और भी बढ़ी। यहाँ तक कि दोनो ही अशक्त हो गए। पहले दोनो इसी गाँव में आधे-आधे के हिस्सेदार थे। अब उनके पास उस झगड़ेवाले खेत को छोड़कर एक अंगुल ज़मीन भी न थी। भूमि गई, धन गया, मान-मर्याद गई; लेकिन वह विवाद ज्यों-का-त्यों बना रहा। हाईकोर्ट के धुरंधर नीतिज्ञ एक मामूली-सा झगड़ा तय न कर सके।

इन दोनो सज्जनों ने गाँव को दो विरोधी दलों में विभक्त कर दिया था। एक दल की भंग-बूटी चौधरी के द्वार पर छनती, तो दूसरे दल के चरस-गाँजे के दम भगत के द्वार पर लगते थे। स्त्रियों और बालकों के भी दो दल हो गए थे। यहाँ तक कि दोनो सज्जनों के सामाजिक और धार्मिक विचारों में भी विभाजक रेखा खिंची हुई थी। चौधरी कपड़े पहने सत्तू खा लेते और भगत को ढोंगी कहते। भगत बिना कपड़े उतारे पानी भी न पीते, और चौधरी को भ्रष्ट बतलाते। भगत सनातनधर्मी बने, तो चौधरी ने आर्य-समाज का आश्रय लिया। जिस बज़ाज़, पंसारी या कुँजड़े से चौधरी सौदा लेते, उसकी ओर भगतजी ताकना भी पाप समझते थे। और भगतजी के हलवाई की मिठाइयाँ, उनके ग्वाले का दूध और तेली का तेल चौधरी के

लिये त्याज्य थे । यहाँ तक कि उनके आरोग्य के सिद्धांतों में भी भिन्नता थी । भगतजी वैद्यक के क़ायल थे, चौधरी युनानी-प्रथा के माननेवाले । दोनो चाहे रोग से मर जाते, पर अपने सिद्धांतों को न तोड़ते ।

(२)

जब देश में राजनीतिक आंदोलन शुरू हुआ, तो उसकी भनक उस गाँव में आ पहुँची । चौधरी ने आँदोलन का पक्ष लिया, भगत उसके विपक्षी हो गए । एक सज्जन ने आकर गाँव में किसान-सभा खोली । चौधरी उसमें शरीक हुए, भगत अलग रहे । जागृति बढ़ी, और स्वराज्य की चर्चा होने लगी । चौधरी स्वराज्यवादी हो गए, भगत ने राजभक्ति का पक्ष लिया । चौधरी का घर स्वराज्यवादियों का अड्डा हो गया, भगत का घर राजभक्तों का क्लब बन गया ।

चौधरी जनता में स्वराज्यवाद का प्रचार करने लगे—"मित्रो, स्वराज्य का अर्थ है अपना राज्य । अपने देश में अपना राज्य हो, तो वह अच्छा है कि किसी दूसरे का राज्य हो, वह ?"

जनता ने कहा—"अपना राज्य हो, वह अच्छा है ।"

चौधरी—"तो वह स्वराज्य कैसे मिलेगा ? आत्मबल से, पुरुषार्थ से, मेल से । एक दूसरे से द्वेष करना छोड़ दो । अपने झगड़े आप मिलकर निपटा लो ।"

एक शंका—"आप तो नित्य अदालत में खड़े रहते हैं ।"

चौधरी—"हाँ, पर आज से अदालत जाऊँ, तो मुझे गऊ-हत्या का पाप लगे । तुम्हें चाहिए कि तुम अपनी गाढ़ी कमाई अपने बाल-बच्चों को खिलाओ, और बचे, तो परोपकार में लगाओ, वकील-मुख़तारों की जेब क्यों भरते हो, थानेदार को घूस क्यों देते हो, अमलों की चिरौरी क्यों करते हो ? पहले हमारे लड़के अपने धर्म

की शिक्षा पाते थे ; वे सदाचारी, त्यागी, पुरुषार्थी बनते थे। अब वे विदेशी मदरसों में पढ़कर चाकरी करते हैं, घूस खाते हैं, शौक़ करते हैं। वे अपने देवताओं और पितरों की निंदा करते हैं, सिगरेट पीते हैं, बाल बनाते हैं, और हाकिमों की गोड़-धरिया करते हैं। क्या यह हमारा कर्तव्य नहीं कि हम अपने बालकों को धर्मानुसार शिक्षा दें ?"

जनता—"चंदा करके पाठशाला खोलनी चाहिए।"

चौधरी—"हम पहले मदिरा का छूना पाप समझते थे। अब गाँव-गाँव और गली-गली में मदिरा की दूकानें हैं। हम अपनी गाढ़ी कमाई के करोड़ों रुपए गाँजे-शराब में उड़ा देते हैं।"

जनता—"जो दारू-भाँग पिए, उसे डाँड़ लगना चाहिए।"

चौधरी—"हमारे दादा-बाबा, छोटे-बड़े सब गाढ़ा-गज़ी पहनते थे। हमारी दादियाँ-नानिया चरखा काता करती थीं। सब धन देश में रहता था, हमारे जुलाहे भाई चैन की वंशी बजाते थे। अब हम विदेश के बने हुए महीन, रंगीन कपड़ों पर जान देते हैं। इस तरह दूसरे देशवाले हमारा धन ढो ले जाते हैं, बिचारे जुलाहे कंगाल हो गए। क्या हमारा यही धर्म है कि अपने भाइयों की थाली छीनकर दूसरों के सामने रख दें ?"

जनता—"गाढ़ा कहीं मिलता ही नहीं।"

चौधरी—"अपने घर का बना हुआ गाढ़ा पहनो, अदालतों को त्यागो, नशेबाज़ी छोड़ो, अपने लड़कों को धर्म-कर्म सिखाओ, मेल से रहो—बस, यही स्वराज्य है। जो लोग कहते हैं कि स्वराज्य के लिये ख़ून की नदी बहेगी, वे पागल हैं—उनकी बातों पर ध्यान मत दो।"

जनता ये बातें बड़े चाव से सुनती थी, और दिनोदिन श्रोताओं की संख्या बढ़ती जाती थी। चौधरी सबके श्रद्धा-भाजन बन गए।

(३)

भगतजी राजभक्ति का उपदेश करने लगे—"भाइयो, राजा का काम राज्य करना और प्रजा का काम उसकी आज्ञा-पालन करना है। इसी को राजभक्ति कहते हैं, और हमारे धार्मिक ग्रंथों में हमें इसी राजभक्ति की शिक्षा दी गई है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। उसकी आज्ञा के विरुद्ध चलना महान् पातक है। राजा का विमुख प्राणी नरक का भागी होता है।"

एक शंका—"राजा को भी तो अपने धर्म का पालन करना चाहिए।"

दूसरी शंका—"हमारे राजा तो नाम के हैं, असली राजा तो विलायत के बनिए-महाजन हैं।"

तीसरी शंका—"बनिए धन कमाना जानते हैं, राज्य करना क्या जानें।"

भगत—"लोग तुम्हें शिक्षा देते हैं कि अदालत में मत जाओ, पंचायत में मुक़दमे ले जाओ; लेकिन ऐसे पंच कहाँ हैं, जो सच्चा न्याय करें, दूध का दूध और पानी का पानी कर दें। यहाँ मुँह-देखी बातें होंगी। जिनका दबाव है, उनको जीत होगी। जिनका कुछ दबाव नहीं है, वे बेचारे मारे जायँगे। अदालतों में सब काररवाई क़ानून पर होती है, वहाँ छोटे-बड़े सब बराबर हैं, शेर-बकरी सब एक घाट पानी पीते हैं।"

एक शंका—"अदालतों का न्याय कहने ही को है, जिसके पास बने हुए गवाह और दाँव-पेंच खेले हुए वकील होते हैं, उसी की जीत होती है, झूठे-सच्चे की परख कौन करता है, हाँ, हैरानी अलबत्ता होती है।"

भगत—"कहा जाता है कि विदेशी चीज़ों का व्यवहार मत करो। यह ग़रीबों के साथ घोर अन्याय है। हमको बाज़ार में जो चीज़

सस्ती और अच्छी मिले, वह लेनी चाहिए। चाहे, स्वदेशी हो या विदेशी। हमारा पैसा सेंत में नहीं आता है कि उसे रद्दी, भद्दी स्वदेशी चीज़ों पर फेकें।"

एक शंका—"अपने देश में तो रहता है, दूसरों के हाथ में तो नहीं जाता।"

दूसरी शंका—"अपने घर में अच्छा खाना न मिले, तो क्या विजातियों के घर का अच्छा भोजन खाने लगेंगे?"

भगत—लोग कहते हैं, लड़कों को सरकारी मदरसों में मत भेजो। सरकारी मदरसों में न पढ़ते, तो आज हमारे भाई बड़ी-बड़ी नौकरियाँ कैसे पाते, बड़े-बड़े कारख़ाने कैसे बना लेते? बिना नई विद्या पढ़े अब संसार में निबाह नहीं हो सकता, पुरानी विद्या पढ़कर पत्रा देखने और कथा बाँचने के सिवा और क्या आता है? राज-काज क्या पट्टी-पोथी बाँचनेवाले लोग करेंगे?"

एक शंका—"हमें राज-काज न चाहिए। हम अपनी खेती-बारी ही में मगन हैं, किसी के गुलाम तो नहीं।"

दूसरी शंका—'जो विद्या घमंडी बना दे, उससे मूर्ख ही अच्छा। यही नई विद्या पढ़कर तो लोग सूट-बूट, घड़ी-छड़ी, हैट-कैट लगाने लगते हैं, और अपने शौक़ के पीछे देश का धन विदेशियों की जेब में भरते हैं। ये देश के द्रोही हैं।"

भगत—"गाँजा-शराब की ओर आजकल लोगों की कड़ी निगाह है। नशा बुरी लत है; इसे सब जानते हैं। सरकार को नशे की दूकानों से करोड़ों रुपए साल की आमदनी होती है। अगर दूकानों में न जाने से लोगों की नशे की लत छूट जाय, तो बड़ी अच्छी बात है। वह दूकान पर न जायगा, तो चोरी-छिपे किसी-न-किसी तरह दूने-चौगुने दाम देकर, सज़ा काटने पर तैयार होकर, अपनी लत पूरी करेगा। तो ऐसा काम क्यों करो कि

सरकार का नुक़सान अलग हो। और ग़रीब रैयत का नुक़सान अलग हो। फिर किसी-किसी को नशा खाने से फ़ायदा होता है। मैं ही एक दिन अफ़ीम न खाऊँ, तो गाँठों में दर्द होने लगे, दम उखड़ जाय, और सरदी पकड़ ले।"

एक आवाज़—"शराब पीने से बदन में फुर्ती आ जाती है।"

एक शंका—"सरकार अधर्म से रुपया कमाती है। उसे यह उचित नहीं। अधर्मी के राज्य में रहकर प्रजा का कल्याण कैसे हो सकता है?"

दूसरी शंका—"पहले दारू पिलाकर पागल बना दिया। लत पड़ी, तो पैसे की चाट हुई। इतनी मजूरी किसको मिलती है कि रोटी-कपड़ा भी चले, और दारू-शराब भी उड़े। या तो बाल-बच्चों को भूखों मारो या चोरी करो, जुवा खेलो, और बेईमानी करो। शराब की दूकान क्या है, हमारी गुलामी का अड्डा है।"

(४)

चौधरी के उपदेश सुनने के लिये जनता टूटती थी, लोगों को खड़े होने को जगह न मिलती। दिनोंदिन चौधरी का मान बढ़ने लगा। उनके यहाँ नित्य पंचायतों और राष्ट्रोन्नति की चर्चा रहती। जनता को इन बातों में बड़ा आनंद और उत्साह होता। उसके राजनीतिक ज्ञान की वृद्धि होती। वह अपना गौरव और महत्त्व समझने लगी, उसे अपनी सत्ता का अनुभव होने लगा। निरंकुशता और अन्याय पर अब उसकी त्योरियाँ चढ़ने लगीं। उसे स्वतंत्रता का स्वाद मिला। घर की रुई, घर का सूत, घर का कपड़ा, घर का भोजन, घर की अदालत, न पुलिस का भय, न अमलों की ख़ुशामद, सुख और शांति से जीवन व्यतीत करने लगी। कितनों ही ने नशेबाज़ी छोड़ दी, और सद्भावों की एक लहर-सी दौड़ने लगी।

लेकिन भगतजी इतने भाग्यशाली न थे। जनता को दिनो-दिन उनके उपदेशों से अरुचि होती जाती थी। यहाँ तक कि बहुधा उनके श्रोताओं में पटवारी, चौकीदार, मुदर्रिस और इन्हीं कर्मचारियों के मित्रों के अतिरिक्त और कोई न होता था। कभी-कभी बड़े हाकिम भी आ निकलते और भगतजी का बड़ा आदर-सत्कार करते। ज़रा देर के लिये भगतजी के आँसू पुँछ जाते। लेकिन क्षण-भर का सम्मान आठो पहर के अपमान की बराबरी कैसे करता। जिधर निकल जाते, ऊधर ही उँगलियाँ उठने लगतीं। कोई कहता, ख़ुशामदी टट्टू है, कोई कहता, ख़ुफ़िया पुलिस का भेदी है। भगतजी अपने प्रतिद्वंद्वी की बड़ाई और अपनी लोक-निंदा पर दाँत पीस-पीसकर रह जाते थे। जीवन में यह पहला ही अवसर था कि उन्हें सबके सामने नीचा देखना पड़ा। चिर काल से जिस कुल-मर्यादा की रक्षा करते आए थे, और जिस पर अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे, वह धूल में मिल गई। यह दाहमय चिंता उन्हें एक क्षण के लिये चैन न लेने देती। नित्य यही समस्या सामने रहती कि अपना खोया हुआ सम्मान क्योंकर पाऊँ, अपने प्रतिपक्षी को क्योंकर पद-दलित करूँ, उसका ग़रूर तोड़ूँ।

अंत में उन्होंने सिंह को उसकी माँद में ही पछाड़ने का निश्चय किया।

(५)

संध्या का समय था। चौधरी के द्वार पर एक बड़ी सभा हो रही थी। आस-पास के गाँवों के किसान भी आ गए थे, हज़ारों आदमियों की भीड़ थी। चौधरी उन्हें स्वराज्य-विषयक उपदेश दे रहे थे। वारंवार भारतमाता के जय-जयकार की ध्वनि उठती थी। एक ओर स्त्रियों का जमाव था। चौधरी ने उपदेश समाप्त

किया, और अपनी जगह पर बैठे। स्वयंसेवकों ने स्वराज्य-फ़ंड के लिये चंदा जमा करना शुरु किया कि इतने में भगतजी न-जाने किधर से लपके हुए आए, और श्रोताओं के सामने खड़े होकर उच्च स्वर से बोले—

"भाइयो, मुझे यहाँ देखकर अचरज मत करो, मैं स्वराज्य का विरोधी नहीं हूँ। ऐसा पतित कौन प्राणी होगा, जो स्वराज्य का निंदक हो, लेकिन इसके प्राप्त करने का वह उपाय नहीं है, जो चौधरी ने बतलाया है, और जिस पर तुम लोग लट्टू हो रहे हो। जब आपस में फूट और रार है, तो पंचायतों से क्या होगा? जब विलासिता का भूत सिर पर सवार है, तो नशा कैसे छूटेगा, मदिरा की दूकानों का बहिष्कार कैसे होगा? सिगरेट, साबुन, मोज़े, बनियायन, अद्धी-तंज़ेब से कैसे पिंड छूटेगा? जब रोब और हुकूमत की लालसा बनी हुई है, तो सरकारी मदरसे कैसे छोड़ोगे, विधर्मी शिक्षा की बेड़ी से कैसे मुक्त हो सकोगे? स्वराज्य लेने का केवल एक ही उपाय है, और वह है आत्मसंयम। यही महौषधि तुम्हारे समस्त रोगों को समूल नष्ट करेगी। आत्मा को बलवान् बनाओ, इंद्रियों को साधो, मन को वश में करो, तभी तुममें भ्रातृ-भाव पैदा होगा, तभी भोग-विलास से मन हटेगा, तभी नशेबाज़ी का दमन होगा। आत्मबल के बिना स्वराज्य कभी प्राप्त न होगा। स्वार्थ-सेवा सब पापों का मूल है, यही तुम्हें अदालतों में ले जाती है, यही तुम्हें विधर्मी शिक्षा का दास बनाए हुए है। इस पिशाच को आत्मबल से मारो, फिर तुम्हारी कामना पूरी हो जायगी। सब जानते हैं, मैं ४० साल से अफ़ीम का सेवन करता हूँ। आज से अफ़ीम को गऊ का रक्त समझूँगा। चौधरी से मेरी तीन पीढ़ियों की अदावत है। आज से चौधरी मेरे भाई हैं। आज से मुझे या मेरे घर के किसी प्राणी को घर के कते सूत से बुने

हुए कपड़े के सिवा कुछ और पहनते देखो, तो मुझे जो दंड चाहो, दो। बस, मुझे यही कहना है, परमात्मा इन सबकी इच्छा पूरी करे।"

यह कहकर भगतजी घर की ओर चले कि चौधरी दौड़कर उनके गले से लिपट गए। तीन पुश्तों की अदावत एक क्षण में शांत हो गई।

उस दिन से चौधरी और भगत साथ-साथ स्वराज्य का उपदेश करने लगे। उन में गाढ़ी मित्रता हो गई है। और यह निश्चय करना कठिन है कि दोनो में से जनता किसका अधिक सम्मान करती है।

पत्रिकाओं के तर्क-वितर्क, आलोचना-प्रत्यालोचना, कवियों के काव्य-चमत्कार, लेखकों का रचना-कौशल इत्यादि सभी बातें उन पर जादू का काम करतीं। इस पर छपाई की कठिनाइयाँ, ग्राहक-संख्या बढ़ाने की चिंता और पत्रिका को सर्वांग-सुंदर बनाने की आकांक्षा और भी प्राणों को संकट में डाले रहती थी। कभी-कभी उन्हें खेद होता कि व्यर्थ ही इस झमेले में पड़ा। यहाँ तक कि परीक्षा के दिन सिर पर आ गए, और वह इसके लिये बिलकुल तैयार न थे। वह उसमें सम्मिलित न हुए। मन को समझाया कि अभी इस काम का श्रीगणेश है, इसी कारण ये सब बाधाएँ उपस्थित होती हैं। अगले वर्ष यह काम एक सुव्यवस्थित रूप में आ जायगा, और तब मैं निश्चिंत होकर परीक्षा में बैठूँगा। पास कर लेना क्या कठिन है। ऐसे बुद्धू पास हो जाते हैं, जो एक सीधा-सा लेख भी नहीं लिख सकते, तो क्या मैं ही रह जाऊँगा। मानकी ने उनकी ये बातें सुनीं, तो ख़ूब दिल के फफोले फोड़े। 'मैं तो जानती थी कि यह धुन तुम्हें मटियामेट कर देगी। इसीलिये बार-बार रोकती थी, लेकिन तुमने मेरी एक न सुनी। आप तो डूबे ही, मुझे भी ले डूबे।' उनके पूज्य पिता भी बिगड़े, हितैषियों ने भी समझाया—"अभी इस काम को कुछ दिनों के लिये स्थगित कर दो, क़ानून में उत्तीर्ण होकर निर्द्वंद्व देशोद्धार में प्रवृत्त हो जाना।" लेकिन ईश्वरचंद्र एक बार मैदान में आकर भागना निंद्य समझते थे। हाँ, उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि दूसरे साल परीक्षा के लिये तन-मन से तैयारी करूँगा।

अतएव नए वर्ष के पदार्पण करते ही उन्होंने क़ानून की पुस्तकें संग्रह कीं, पाठ्य-क्रम निश्चित किया, रोज़नामचा लिखने लगे, और अपने चंचल और बहानेबाज़ चित्त को चारो ओर से जकड़ा, मगर चटपटे पदार्थों का आस्वादन करने के बाद सरल भोजन

कब रुचिकर होता है। क़ानून में वे घातें कहाँ, वह उन्माद कहाँ, वे चोट कहाँ, वह उत्तेजना कहाँ, वह हलचल कहाँ। बाबू साहब अब नित्य एक खोई हुई दशा में रहते। जब तक अपने इच्छानुकूल काम करते थे, चौबीस घंटों में घंटे-दो घंटे क़ानून भी देख लिया करते थे। उस नशे ने मानसिक शक्तियों को शिथिल कर दिया। स्नायु निर्जीव हो गए। उन्हें ज्ञात होने लगा कि अब मैं क़ानून के लायक़ नहीं रहा, और इस ज्ञान ने क़ानून के प्रति उदासीनता का रूप धारण किया। मन में संतोषवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारब्ध और पूर्व-संस्कार के सिद्धांतों की शरण लेने लगे।

एक दिन मानकी ने कहा—"यह क्या बात है ? क्या क़ानून से फिर जी उचाट हुआ ?"

ईश्वरचंद्र ने दुस्साहस-पूर्ण भाव से उत्तर दिया—"हाँ, भई, मेरा जी इससे भागता है।"

मानकी ने व्यंग्य से कहा—"बहुत कठिन है ?"

ईश्वरचंद्र—"कठिन नहीं है, और कठिन भी होता, तो मैं उससे डरनेवाला न था, लेकिन मुझे वकालत का पेशा ही पतित प्रतीत होता है। ज्यों-ज्यों वकीलों की आंतरिक दशा का ज्ञान होता है, मुझे उस पेशे से घृणा होती जाती है। इसी शहर में सैकड़ों वकील और बैरिस्टर पड़े हुए हैं, लेकिन एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं, जिसके हृदय में दया हो, जो स्वार्थपरता के हाथों बिक न गया हो। छल और धूर्तता इस पेशे का मूल-तत्त्व है। इसके बिना किसी तरह निर्वाह नहीं। अगर कोई महाशय जातीय आंदोलन में शरीक भी होते हैं, तो स्वार्थ-सिद्धि के लिये, अपना ढोल पीटने के लिये। हम लोगों का समग्र जीवन वासना-भक्ति पर अर्पित हो जाता है। दुर्भाग्य से हमारे देश का शिक्षित-समुदाय इसी दरगाह का मुजावर

होता जाता है, और यही कारण है कि हमारी जातीय संस्थाओं की शीघ्र वृद्धि नहीं होती। जिस काम में हमारा दिल न हो, हम केवल ख्याति और स्वार्थ के लिये उसके कर्णधार बने हुए हों, वह कभी सफल नहीं हो सकता। यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्याय है, जिसने इस पेशे को इतना उच्च स्थान प्रदान कर दिया है। यह विदेशी सभ्यता का निकृष्टतम स्वरूप है कि देश का बुद्धि-बल स्वयं धनोपार्जन न करके दूसरों की पैदा की हुई दौलत पर चैन करना, शहद की मक्खी न बनकर चींटी बनना अपने जीवन का लक्ष्य समझता है।"

मानकी चिढ़कर बोली—"पहले तो तुम वकीलों की इतनी निंदा न करते थे।"

ईश्वरचंद्र ने उत्तर दिया—"तब अनुभव न था। बाहरी टीम-टाम ने वशीकरण कर दिया था।"

मानकी—"क्या जाने तुम्हें पत्रों से क्यों इतना प्रेम है। मैं तो जिसे देखती हूँ, अपनी कठिनाइयों का रोना ही रोते हुए पाती हूँ। कोई अपने ग्राहकों से नए ग्राहक बनाने का अनुरोध करता है, कोई चंदा न वसूल होने की शिकायत करता है। बता दो कि कोई उच्च शिक्षा-प्राप्त मनुष्य कभी इस पेशे में आया है। जिसे कुछ नहीं सूझता, जिसके पास न कोई सनद है न कोई डिग्री, वही पत्र निकाल बैठता है, और भूखों मरने की अपेक्षा रूखी रोटियों पर ही संतोष करता है। लोग विलायत जाते हैं, कोई पढ़ता है डॉक्टरी, कोई इंजिनियरी, कोई सिविल सर्विस। लेकिन आज तक न सुना कि कोई एडीटरी का काम सीखने गया हो। क्यों सीखे? किसी को क्या पड़ी है कि जीवन की महत्त्वाकांक्षाओं को ख़ाक में मिलाकर त्याग और विराग में उम्र काटे। हाँ, जिनको सनक सवार हो गई हो, उनको बात निराली है।"

ईश्वरचंद्र—"जीवन का उद्देश्य केवल धन-संचय करना ही नहीं है।"

मानकी—"अभी तुमने वकीलों की निंदा करते हुए कहा, 'ये लोग दूसरों की कमाई खाकर मोटे होते हैं।' पत्र चलानेवाले भी तो दूसरों की ही कमाई खाते हैं।"

ईश्वरचंद्र ने बग़लें झाँकते हुए कहा—"हम लोग दूसरों की कमाई खाते हैं, तो दूसरों पर जान भी देते हैं। वकीलों की भाँति किसी को लूटते नहीं।"

मानकी—"यह तुम्हारी हठधर्मी है। वकील भी तो अपने मुवक्किलों के लिये जान लड़ा देते हैं। उनकी कमाई भी उतनी ही हलाल है, जितनी पत्रवालों की। अंतर केवल इतना है कि एक की कमाई पहाड़ी सोता है, दूसरे की बरसाती नाला। एक में नित्य जल-प्रवाह होता है, दूसरे में नित्य धूल उड़ा करती है। बहुत हुआ, तो बरसात में घड़ी-दो घड़ी के लिये पानी आ गया।"

ईश्वरचंद्र—"पहले तो मैं यही नहीं मानता कि वकीलों की कमाई हलाल है, और मान भी लूँ, तो किसी तरह यह नहीं मान सकता कि सभी वकील फूलों की सेज पर सोते हैं। अपना-अपना भाग्य सभी जगह है। कितने ही वकील हैं, जो झूठी गवाहियाँ देकर पेट पालते हैं। इस देश में समाचार-पत्रों का प्रचार अभी बहुत कम है, इसी कारण पत्र-संचालकों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। योरप और अमेरिका में पत्र चलाकर लोग करोड़पति हो गए हैं। इस समय संसार के सभी समुन्नत देशों के सूत्रधार या तो समाचार-पत्रों के संपादक और लेखक हैं, या पत्रों के स्वामी। ऐसे कितने ही अरबपति हैं, जिन्होंने अपनी संपत्ति की नीव पत्रों पर ही खड़ी की थी......।"

ईश्वरचंद्र सिद्ध करना चाहते थे कि धन, ख्याति और सम्मान प्राप्त करने का पत्र-संचालन से उत्तम और कोई साधन नहीं; और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसी जीवन में सत्य और न्याय की रक्षा करने के सच्चे अवसर मिलते हैं। परंतु मानकी पर इस वक्तृता का ज़रा भी असर न हुआ। स्थूल-दृष्टि को दूर की चीज़ें साफ़ नहीं दिखाई देतीं। मानकी के सामने सफल संपादक का कोई उदाहरण न था।

(३)

सोलह वर्ष गुज़र गए। ईश्वरचंद्र ने संपादकीय जगत् में ख़ूब नाम पैदा किया, जातीय आंदोलनों में अग्रसर हुए, पुस्तकें लिखीं, एक दैनिक पत्र निकाला, अधिकारियों के भी सम्मान-पात्र हुए। बड़ा लड़का बी० ए० में जा पहुँचा, छोटे लड़के नीचे के दरजों में थे। एक लड़की का विवाह भी एक धन-संपन्न कुल में किया। विदित यही होता था कि उनका जीवन बड़ा ही सुखमय है। मगर उनकी आर्थिक दशा अब भी संतोषजनक न थी। ख़र्च आमदनी से बढ़ा हुआ था। घर की कई हज़ार की जायदाद हाथ से निकल गई, इस पर भी बैंक का कुछ न-कुछ देना सिर पर सवार रहता था। बाज़ार में भी उनकी साख न थी। कभी-कभी तो यहाँ तक नौबत आ जाती कि उन्हें बाज़ार का रास्ता छोड़ना पड़ता। अब वह अक्सर अपनी युवावस्था की अदूरदर्शिता पर अफ़सोस करते थे। जातीय सेवा का भाव अब भी उनके हृदय में तरंगें मारता था, लेकिन काम तो वह करते थे, और यश वकीलों और सेठों के हिस्सों में आ जाता था। उनकी गिनती अभी तक छुटभैयों में थी। यद्यपि सारा नगर जानता था कि यहाँ के सार्वजनिक जीवन के प्राण वही हैं, पर उनका यथार्थ सम्मान न होता था। इन्हीं कारणों से ईश्वरचंद्र को अब संगठन-कार्य से

अरुचि होती थी। दिनोदिन उनका उत्साह क्षीण होता जाता था, लेकिन इस जाल से निकलने का कोई उपाय न सूझता था। उनकी रचना में अब सजीवता न थी, न लेखनी में शक्ति। उनके पत्र और पत्रिका, दोनो ही से उदासीनता का भाव झलकता था। उन्होंने सारा भार सहायकों पर छोड़ दिया था, ख़ुद बहुत कम काम करते थे। हाँ, दोनो पत्रों की जड़ जम चुकी थी, इसलिये ग्राहक-संख्या कम न होने पाती थी। वे अपने नाम पर चलते थे।

लेकिन इस संघर्ष और संग्राम के काल में उदासीनता का निर्वाह कहाँ। 'गौरव' के कई प्रतियोगी खड़े हो गए, जिनके नवीन उत्साह ने 'गौरव' से बाज़ी मार ली। उसका बाज़ार ठंडा होने लगा। नए प्रतियोगियों का जनता ने बड़े हर्ष से स्वागत किया। उनकी उन्नति होने लगी। यद्यपि उनके सिद्धांत भी वही, लेखक भी वही, विषय भी वही थे, लेकिन आगंतुकों ने उन्हीं पुरानी बातों में नई जान डाल दी। इनका उत्साह देख ईश्वरचंद्र को भी जोश आया कि एक बार फिर अपनी रुकी हुई गाड़ी में ज़ोर लगाऊँ, लेकिन न अपने में सामर्थ्य थी, न कोई हाथ बँटानेवाला नज़र आता था। इधर-उधर निराश नेत्रों से देखकर हतोत्साह हो जाते थे। हा! मैंने अपना सारा जीवन सार्वजनिक कार्यों में व्यतीत किया, खेत बोया, सींचा, दिन को दिन और रात को रात न समझा, धूप में जला, पानी में भीगा, और इतने परिश्रम के बाद जब फ़सल काटने के दिन आए, तो मुझमें हँसिया पकड़ने का भी बूता नहीं। दूसरे लोग, जिनका उस समय कहीं पता न था, अनाज काट-काटकर खलिहान भरे लेते हैं, और मैं खड़ा मुँह ताकता हूँ। उन्हें पूरा विश्वास था कि अगर कोई उत्साहशील युवक मेरा शरीक हो जाता, तो 'गौरव' अब भी अपने प्रतिद्वंद्वियों को परास्त कर सकता। सभ्य-समाज में उनकी

धाक जमी हुई थी, परिस्थिति उनके अनुकूल थी । ज़रूरत केवल ताज़े ख़ून की थी । उन्हें अपने बड़े लड़के से ज़्यादा उपयुक्त इस काम के लिये और कोई न दिखाई देता था । उसकी रुचि भी इस काम की ओर थी, पर मानकी के भय से वह इस विचार को ज़बान पर न ला सके थे । इसी चिंता में दो साल गुज़र गए, और यहाँ तक नौबत पहुँची कि या तो 'गौरव' का टाट उलट दिया जाय, या उसे फिर सँभाला जाय । ईश्वरचंद्र ने इसके पुनरुद्धार के अंतिम उद्योग करने का दृढ़ निश्चय कर लिया । इसके सिवा और कोई उपाय न था । यह पत्रिका उनके जीवन का सर्वस्व थी । उसे बंद करने की वह कल्पना भी न कर सकते थे । यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा न था, पर प्राण-रक्षा की स्वाभाविक इच्छा ने उन्हें अपना सब कुछ अपनी पत्रिका पर न्यौछावर करने को उद्यत कर दिया । फिर दिन-के-दिन लिखने-पढ़ने में रत रहने लगे । एक क्षण के लिये भी सिर न उठाते । 'गौरव' के लेखों में फिर सजीवता का उद्भव हुआ, विद्वज्जनों में फिर उसकी चर्चा होने लगी, सहयोगियों ने फिर उसके लेखों को उद्धृत करना शुरू किया, पत्रिकाओं में फिर उसकी प्रशंसा-सूचक आलोचनाएँ निकलने लगीं । पुराने उस्ताद की ललकार फिर अखाड़े में गूँजने लगी

लेकिन पत्रिका के पुनःसंस्कार के साथ उनका शरीर और भी जर्जर होने लगा । हृद्-रोग के लक्षण दिखाई देने लगे । रक्त की न्यूनता से मुख पर पीलापन छा गया । ऐसी दशा में वह सुबह से शाम तक अपने काम में लीन रहते । देश में धन और श्रम का संग्राम छिड़ा हुआ था । ईश्वरचंद्र की सदय प्रकृति ने उन्हें श्रम का सपक्षी बना दिया था । धन-वादियों का खंडन और प्रतिवाद करते हुए उनके ख़ून में गरमी आ जाती थी, शब्दों से चिन-

गारियाँ निकलने लगती थीं, यद्यपि वे चिनगारियाँ केंद्रस्थ गरमी को छिन्न किए देती थीं।

एक दिन रात के दस बज गए थे। सरदी ख़ूब पड़ रही थी। मानकी दबे-पैर उनके कमरे में आई। दीपक की ज्योति में उनके मुख का पीलापन और भी स्पष्ट हो गया था। वह हाथ में क़लम लिए किसी विचार में मग्न थे। मानकी के आने की उन्हें ज़रा भी आहट न मिली, मानकी एक क्षण तक उन्हें वेदना-युक्त नेत्रों से ताकती रही। तब बोली—"अब तो यह पोथा बंद करो। आधी रात होने को आई। खाना पानी हुआ जाता है।"

ईश्वरचंद्र ने चौंककर सिर उठाया और बोले—"क्यों, क्या आधी रात हो गई? नहीं, अभी मुश्किल से दस बजे होंगे। मुझे अभी ज़रा भी भूख नहीं।"

मानकी—"कुछ थोड़ा-सा खा लेना।"

ईश्वरचंद्र—"एक ग्रास भी नहीं। मुझे इसी समय अपना लेख समाप्त करना है।"

मानकी—"मैं देखती हूँ, तुम्हारी दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती है, दवा क्यों नहीं करते? जान खपाकर थोड़े ही काम किया जाता है।"

ईश्वरचंद्र—"अपनी जान को देखूँ या इस घोर संग्राम को, जिसने समस्त देश में हलचल मचा रक्खा है। हज़ारों-लाखों जानों की हिमायत में एक जान न भी रहे, तो क्या चिंता?"

मानकी—"कोई सुयोग्य सहायक क्यों नहीं रख लेते?"

ईश्वरचंद्र ने ठंडी साँस लेकर कहा—"बहुत खोजता हूँ, पर कोई नहीं मिलता। एक विचार कई दिनों से मेरे मन में उठ रहा है, अगर तुम धैर्य से सुनना चाहो, तो कहूँ।"

मानकी—"कहो, मानने लायक़ होगी, तो मानूँगी क्यों नहीं?"

ईश्वरचंद्र—"मैं चाहता हूँ कि कृष्णचंद्र को अपने काम में शरीक कर लूँ। अब तो वह एम्० ए० भी हो गया। इस पेशे से उसे रुचि भी है। मालूम होता है, ईश्वर ने उसे इसी काम के लिये बनाया है।"

मानकी ने अवहेलना-भाव से कहा —"क्या अपने साथ उसे भी ले डूबने का इरादा है? कोई घर की सेवा करनेवाला भी चाहिए कि सब देश की ही सेवा करेंगे।"

ईश्वरचंद्र—"कृष्णचंद्र यहाँ बुरा न रहेगा।"

मानकी—"क्षमा कीजिए। बाज़ आई। वह कोई दूसरा काम करेगा, जहाँ चार पैसे मिलें। यह घर-फूँक काम आप ही को मुबारक रहे।"

ईश्वरचंद्र—"वकालत में भेजोगी, पर देख लेना, पछताना पड़ेगा। कृष्णचंद्र उस पेशे के लिये सर्वथा अयोग्य है।"

मानकी—"वह चाहे मजूरी करे, पर इस काम में न डालूँगी।"

ईश्वरचंद्र—"तुमने मुझे देखकर समझ लिया कि इस काम में घाटा-ही-घाटा है। पर इसी देश में ऐसे भाग्यवान् लोग मौजूद हैं, जो पत्रों की बदौलत धन और कीर्ति से मालामाल हो रहे हैं।"

मानकी—"इस काम में तो अगर कंचन भी बरसे, तो मैं कृष्ण को न आने दूँ। सारा जीवन वैराग्य में कट गया। अब कुछ दिन भोग भी करना चाहती हूँ।"

यह जाति का सच्चा सेवक अंत को जातीय कष्टों के साथ रोग के कष्टों को न सह सका। इस वार्तालाप के बाद मुश्किल से नौ महीने गुज़रे थे कि ईश्वरचंद्र ने संसार से प्रस्थान किया। उनका सारा जीवन सत्य के पोषण, न्याय की रक्षा और अन्याय के विरोध में कटा था। अपने सिद्धांतों के पालन में उन्हें कितनी ही बार

अधिकारियों की तीव्र दृष्टि का भाजन बनना पड़ा था, कितनी ही बार जनता का अविश्वास, यहाँ तक कि मित्रों की अवहेलना भी सहनी पड़ी थी, पर उन्होंने अपनी आत्मा का कभी ख़ून नहीं किया। आत्मा के गौरव के सामने धन को कुछ न समझा।

इस शोक-समाचार के फैलते ही सारे शहर में कुहराम मच गया। बाज़ारें बंद हो गईं, शोक के जलसे होने लगे, सहयोगी पत्रों ने प्रतिद्वंद्विता के भाव को त्याग दिया, चारों ओर से एक ध्वनि आती थी कि देश से एक स्वतंत्र, सत्यवादी और विचार-शील संपादक तथा एक निर्भीक, त्यागी, देश-भक्त उठ गया, और उसका स्थान चिरकाल तक ख़ाली रहेगा। ईश्वरचंद्र इतने बहुजन-प्रिय हैं, इसका उनके घरवालों को ध्यान भी न था। उनका शव निकला, तो सारा शहर अरथी के साथ था। उनके स्मारक बनने लगे। कहीं छात्र-वृत्तियाँ दी गईं, कहीं उनके चित्र बनवाए गए, पर सबसे अधिक महत्त्वशाली वह मूर्ति थी, जो श्रमजीवियों की ओर से उनकी स्मृति में प्रतिष्ठित हुई थी।

मानकी को अपने पतिदेव का लोक-सम्मान देखकर सुखमय कुतूहल होता था। उसे अब खेद होता था कि मैंने उनके दिव्य गुणों को न पहचाना, उनके पवित्र भावों और उच्च विचारों की क़दर न की। सारा नगर उनके लिये शोक मना रहा है। उनकी लेखनी ने अवश्य इनके ऐसे उपकार किए हैं, जिन्हें ये भूल नहीं सकते; और मैं अंत तक उनके मार्ग का कंटक बनी रही, सदैव तृष्णा-वश उनका दिल दुखाती रही। उन्होंने मुझे सोने में मढ़ दिया होता, एक भव्य भवन बनवाया होता, या कोई जायदाद पैदा कर ली होती, तो मैं ख़ुश होती, अपना धन्य भाग्य समझती। लेकिन तब देश में कौन उनके लिये आँसू बहाता, कौन उनका यश गाता।

यहाँ एक-से-एक धनिक पुरुष पड़े हुए हैं। वे दुनिया से चले जाते हैं, और किसी को ख़बर भी नहीं होती। सुनती हूँ, पतिदेव के नाम से छात्रों को वृत्ति दी जायगी। जो लड़के वृत्ति पाकर विद्या-लाभ करेंगे, वे मरते-दम तक उनकी आत्मा को आशीर्वाद देंगे। शोक! मैंने उनके आत्मत्याग का मर्म न जाना। स्वार्थ ने मेरी आँखों पर परदा डाल दिया था।

मानकी के हृदय में ज्यों-ज्यों ये भावनाएँ जाग्रत् होती जाती थीं, उसे पति में श्रद्धा बढ़ती जाती थी। वह गौरवशीला स्त्री थी। इस कीर्ति-गान और जन-सम्मान से उसका मस्तक ऊँचा हो जाता था। इसके उपरांत अब उसकी आर्थिक दशा पहले की-सी चिंता-जनक न थी। कृष्णचंद्र के असाधारण अध्यवसाय और बुद्धि-बल ने उनकी वकालत को चमका दिया था। वह जातीय कामों में अवश्य भाग लेते थे, पत्रों में यथाशक्ति लेख भी लिखते थे, इस काम से उन्हें विशेष प्रेम था। लेकिन मानकी उन्हें हमेशा इन कामों से दूर रखने की चेष्टा करती रहती थी। कृष्णचंद्र अपने ऊपर ज़ब्र करते थे। मा का दिल दुखाना उन्हें मंज़ूर न था।

ईश्वरचंद्र की पहली बरसी थी। शाम को ब्रह्मभोज हुआ। आधी रात तक ग़रीबों को खाना दिया गया। प्रातःकाल मानकी अपनी सेजगाड़ी पर बैठकर गंगा नहाने गई। यह उसकी चिर-संचित अभिलाषा थी, जो अब पुत्र की मातृभक्ति ने पूरी कर दी थी। वह उधर से लौट रही थी कि उसके कानों में बैंड की आवाज़ आई, और एक क्षण बाद एक जलूस सामने आता हुआ दिखाई दिया। पहले कोतल घोड़ों की माला थी, उसके बाद अश्वारोही स्वयं-सेवकों की सेना। उसके पीछे सैकड़ों सवारी-गाड़ियाँ थीं। सबके पीछे एक सजे हुए रथ पर किसी देवता की मूर्ति थी। कितने ही आदमी इस विमान को खींच रहे थे। मानकी सोचने लगी—

'यह किस देवता का विमान है? न तो रामलीला के ही दिन हैं, न रथयात्रा के।' सहसा उसका दिल ज़ोर से उछल पड़ा। यह ईश्वरचंद्र की मूर्ति थी, जो श्रमजीवियों की ओर से बनवाई गई थी, और लोग उसे बड़े मैदान में स्थापित करने को लिए जाते थे। वही स्वरूप था, वही वस्त्र, वही मुखाकृति, मूर्तिकार ने विलक्षण कौशल दिखाया था। मानकी का हृदय बाँसों उछलने लगा। उत्कंठा हुई कि परदे से निकलकर इस जलूस के सम्मुख पति के चरणों पर गिर पड़ूँ। पत्थर की मूर्ति मानव-शरीर से अधिक श्रद्धास्पद होती है। किंतु कौन मुँह लेकर मूर्ति के सामने जाऊँ? उसकी आत्मा ने कभी उसका इतना तिरस्कार न किया था। मेरी धन-लिप्सा उनके पैरों की बेड़ी न बनती, तो वह न-जाने किस सम्मान-पद पर पहुँचते। मेरे कारण उन्हें कितना क्षोभ हुआ! घरवालों की सहानुभूति बाहरवालों के सम्मान से कहीं उत्साह-जनक होती है। मैं इन्हें क्या कुछ न बना सकती थी, पर कभी उभरने न दिया। स्वामीजी, मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हारी अपराधिनी हूँ, मैंने तुम्हारे पवित्र भावों की हत्या की है, मैंने तुम्हारी आत्मा को दुःखी किया है। मैंने बाज़ को पिंजड़े में बंद करके रक्खा था। शोक!

सारे दिन मानकी को यही पश्चात्ताप होता रहा। शाम को उससे न रहा गया। वह अपनी कहारिन को लेकर पैदल उस देवता के दर्शन को चली, जिसकी आत्मा को उसने दुःख पहुँचाया था।

संध्या का समय था। आकाश पर लालिमा छाई हुई थी। अस्ताचल की ओर कुछ बादल भी हो आए थे। सूर्यदेव कभी मेघ-पट में छिप जाते थे, कभी बाहर निकल आते थे। इस धूप-छाँह में ईश्वरचंद्र की मूर्ति दूर से कभी प्रभात की भाँति प्रसन्न

मुख और कभी संध्या की भाँति मलिन देख पड़ती थी । मानकी उसके निकट गई, पर उसके मुख की ओर न देख सकी। उन आँखों में करुणा-वेदना थी। मानकी को ऐसा मालूम हुआ, मानो वह मेरी ओर तिरस्कार-पूर्ण भाव से देख रही है। उसकी आँखों से ग्लानि और लज्जा के आँसू बहने लगे । वह मूर्ति के चरणों पर गिर पड़ी, और मुँह ढाँपकर रोने लगी। मन के भाव द्रवित हो गए।

वह घर आई, तो नौ बज गए थे। कृष्णचंद्र उसे देखकर बोले—"अम्मा, आज आप इस वक़्त कहाँ गई थीं?"

मानकी ने हर्ष से कहा—"गई थी तुम्हारे बाबूजी की प्रतिमा के दर्शन करने। ऐसा मालूम होता है, वह साक्षात् खड़े हैं।"

कृष्णचंद्र—"जयपुर से बनकर आई है।"

मानकी—"पहले तो लोग उनका इतना आदर न करते थे।"

कृष्णचंद्र—"उनका सारा जीवन सत्य और न्याय की वकालत में गुज़रा है। ऐसे ही महात्माओं की पूजा होती है।"

मानकी—"लेकिन उन्होंने वकालत कब की?"

कृष्णचंद्र—"हाँ, यह वकालत नहीं की, जो मैं और मेरे हज़ारों भाई कर रहे हैं, जिससे न्याय और धर्म का ख़ून हो रहा है। उनकी वकालत उच्च कोटि की थी।"

मानकी—"अगर ऐसा है, तो तुम भी वही वकालत क्यों नहीं करते?"

कृष्णचंद्र—"बहुत कठिन है। दुनिया का जंजाल अपने सिर लीजिए, दूसरों के लिये रोइए, दीनों की रक्षा के लिये लट्ठ लिए फिरिए, अधिकारियों के मुँह आइए, उनका क्षोभ और कोप सहिए, और इस कष्ट, अपमान और यंत्रणा का पुरस्कार क्या है? अपनी नवीनाभिलाषाओं की हत्या।"

मानकी—"लेकिन यश तो होता है।"

कृष्णचंद्र—"हाँ, यश होता है। लोग आशीर्वाद देते हैं।"

मानकी—"जब इतना यश मिलता है, तो तुम भी वही काम करो। हम लोग उस पवित्र आत्मा की और कुछ सेवा नहीं कर सकते, तो उसी वाटिका को सींचते जायँ, जो उन्होंने अपने जीवन में इतने उत्सर्ग और भक्ति से लगाई। इससे उनकी आत्मा को शांति मिलेगी।"

कृष्णचंद्र ने माता को श्रद्धामय नेत्रों से देखकर कहा—"करूँ तो, मगर संभव है, तब यह टीम-टाम न निभ सके। शायद फिर वही पहले की-सी दशा हो जाय।"

मानकी—"कोई हरज नहीं। संसार में यश तो होगा। आज तो अगर धन की देवी भी मेरे सामने आवे, तो मैं आँखें न नीची करूँ।"

यही मेरी मातृभूमि है

(१)

आज पूरे साठ वर्ष के बाद मुझे मातृभूमि, प्यारी मातृभूमि, के दर्शन प्राप्त हुए हैं। जिस समय मैं अपने प्यारे देश से बिदा हुआ था, और भाग्य मुझे पश्चिम की ओर ले चला था, उस समय मैं पूर्ण युवा था। मेरी नसों में नवीन रक्त संचालित हो रहा था। हृदय उमंगों और बड़ी-बड़ी आशाओं से भरा हुआ था। मुझे अपने प्यारे भारतवर्ष से किसी अत्याचारी के अत्याचार या न्याय के बलवान् हाथों ने नहीं जुदा किया था। अत्याचारी के अत्याचार और क़ानून की कठोरताएँ मुझसे जो चाहे करा सकती हैं, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि मुझसे नहीं छुड़ा सकतीं। वे मेरी उच्च अभिलाषाएँ और बड़े-बड़े ऊँचे विचार ही थे, जिन्होंने मुझे देश-निकाला दिया था।

मैंने अमेरिका जाकर वहाँ ख़ूब व्यापार किया, और व्यापार से धन भी ख़ूब पैदा किया, तथा धन से आनंद भी ख़ूब मनमाने लूटे। सौभाग्य से पत्नी भी ऐसी मिली, जो सौंदर्य में अपना सानी आप ही थी। उसकी लावण्यता और सुंदरता की ख्याति तमाम अमेरिका में फैली थी। उसके हृदय में ऐसे विचार की गुंजा-यश भी न थी, जिसका संबंध मुझसे न हो। मैं उस पर तन-मन से आसक्त था, और वह मेरी सर्वस्व थी। मेरे पाँच पुत्र थे, जो सुंदर, हृष्ट-पुष्ट और ईमानदार थे। उन्होंने व्यापार को और भी चमका दिया था। मेरे भोले-भाले नन्हे-नन्हे पौत्र, गोद में बैठे हुए थे, जब कि मैंने प्यारी मातृभूमि के अंतिम दर्शन करने को अपने पैर उठाए। मैंने अनंत धन, प्रियतमा पत्नी, सपूत बेटे

चकमा

(१)

सेठ चंदूमल जब अपनी दूकान और गोदाम में भरे हुए माल को देखते, तो मुँह से ठंडी साँस निकल जाती। यह माल कैसे बिकेगा ? बैंक का सूद बढ़ रहा है, दूकान का किराया चढ़ रहा है, कर्मचारियों का वेतन बाक़ी पड़ता जाता है। ये सभी रक़में गाँठ से देनी पड़ेंगी। अगर कुछ दिन यही हाल रहा, तो दिवाले के सिवा और किसी तरह जान न बचेगी। तिस पर भी धरनेवाले नित्य सिर पर शैतान की तरह सवार रहते हैं।

सेठ चंदूमल की दूकान चाँदनी-चौक, दिल्ली में थी। मुफ़स्सिल में भी उनकी कई दूकानें थीं। जब शहर कांग्रेस-कमेटी ने उनसे विलायती कपड़े की ख़रीद और बिक्री के विषय में प्रतिज्ञा करानी चाही, तो उन्होंने कुछ ध्यान न दिया। बाज़ार के कई अढ़तियों ने उनकी देखादेखी प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। चंदूमल को जो नेतृत्व कभी न नसीब हुआ था, वह इस अवसर पर बिना हाथ-पैर हिलाए ही मिल गया। वह सरकार के ख़ैरख़्वाह थे। साहब बहादुरों को समय-समय पर डालियाँ नजर देते रहते थे। पुलिस से घनिष्ठता थी। म्युनिसिपैलिटी के सदस्य भी थे। कांग्रेस के व्यापारिक कार्य-क्रम का विरोध करके अमन-सभा के कोषाध्यक्ष बन बैठे। यह इसी ख़ैरख़्वाही की बरकत थी। युवराज का स्वागत करने के लिये अधिकारियों ने उनसे २५ हज़ार के कपड़े ख़रीदे। ऐसा समर्थ पुरुष कांग्रेस से क्यों डरे ? कांग्रेस है किस खेत की मूली ?

पुलिसवालों ने भी बढ़ावा दिया—"मुआहिदे पर हरगिज़ दस्तख़त न कीजिएगा। देखें, ये लोग क्या करते हैं? एक-एक को जेल न भेजवा दिया, तो कहिएगा।" लालाजी के हौसले बढ़े। उन्होंने कांग्रेस से लड़ने की ठान ली। उसी के फल-स्वरूप तीन महीने से उनकी दूकान पर प्रातःकाल से ६ बजे रात तक पहरा रहता था। पुलिस-दलों ने उनकी दूकान पर वालंटियरों को कई बार गालियाँ दीं, कई बार पीटा, ख़ुद सेठजी ने भी कई बार उन पर वाणी के बाण चलाए, किंतु पहरेवाले किसी तरह न टलते थे। बल्कि इन अत्याचारों के कारण चंदूमल का बाज़ार और भी गिरता जाता था। मुफ़स्सिल की दूकानों से मुनीम लोग और भी दुराशाजनक समाचार भेजते रहते थे। कठिन समस्या थी। इस संकट से निकलने का कोई उपाय न था। वह देखते थे, जिन लोगों ने प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताचर कर दिए हैं, वे चोरी-छिपे कुछ-न-कुछ विदेशी माल बेच लेते हैं। उनकी दूकानों पर पहरा नहीं बैठता। यह सारी विपत्ति मेरे ही सिर है।

उन्होंने सोचा, पुलिस और हाकिमों की दोस्ती से मेरा भला क्या हुआ? उनके हटाए ये पहरे नहीं हटते। सिपाहियों की प्रेरणा से ग्राहक नहीं आते। किसी तरह पहरे बंद हो जाते, तो सारा खेल बन जाता।

इतने में मुनीमजी ने कहा—"लालाजी, यह देखिए, कई व्यापारी हमारी तरफ़ आ रहे थे। पहरेवालों ने उन्हें न-जाने क्या मंत्र पढ़ा दिया, सब चले जा रहे हैं।"

चंदूमल—"अगर इन पापियों को कोई गोली मार देता, तो मैं बहुत ख़ुश होता। ये सब मेरा सर्वनाश करके दम लेंगे।"

मुनीम—"कुछ हेठी तो होगी, यदि आप प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताचर कर देते, तो यह पहरा उठ जाता। तब हम भी यह सब माल किसी-न-किसी तरह खपा देते।"

चंदूमल—"मन में तो मेरे भी यह बात आती है, पर सोचो, अपमान कितना होगा? इतनी हेकड़ी दिखाने के बाद फिर झुका नहीं जाता। फिर हाकिमों की निगाहों में गिर जाऊँगा। और लोग भी ताने देंगे कि चले थे बच्चा कांग्रेस से लड़ने। ऐसी मुँहकी खाई कि होश ठिकाने आ गए। जिन लोगों को पीटा और पिटवाया, जिनको गालियाँ दीं, जिनकी हँसी उड़ाई! अब उनकी शरण कौन मुँह लेकर जाऊँ। मगर एक उपाय सूझ रहा है। अगर चकमा चल गया, तो 'पौ बारह' है। बात तो तब है, जब साँप को मारूँ, मगर लाठी बचाकर। पहरा उठा दूँ, पर बिना किसी की ख़ुशामद किए।"

(२)

नौ बज गए थे। सेठ चंदूमल गंगा-स्नान करके लौट आए थे, और मसनद पर बैठकर चिट्ठियाँ पढ़ रहे थे। अन्य दूकान के मुनीमों ने अपनी विपत्ति-कथा सुनाई थी! एक-एक पत्र पढ़कर सेठजी का क्रोध बढ़ता जाता था। इतने में दो वालंटियर झंडियाँ लिए हुए उनकी दूकान के सामने आकर खड़े हो गए।

सेठजी ने डाँटकर कहा—"हट जाओ हमारी दूकान के सामने से।"

एक वालंटियर ने उत्तर दिया—"महाराज, हम तो सड़क पर हैं। क्या यहाँ से भी चले जायँ।"

चंदूमल—"तुम्हारी सूरत नहीं देखना चाहता।"

वालंटियर—"तो आप कांग्रेस-कमेटी को लिखिए। हमको तो वहाँ से यहीं खड़े रहकर पहरा देने का हुक्म मिला है।"

एक कांस्टेबिल ने आकर कहा—"क्या है सेठजी, यह लौंडा क्या टर्राता है?"

चंदूमल बोले—"मैं कहता हूँ, दूकान के सामने से हट जाओ, पर यह कहता है, न हटेंगे, न हटेंगे। ज़रा इसकी ज़बरदस्ती देखो।"

कांस्टेबिल—(वालंटियरों से) "तुम दोनों यहाँ से जाते हो कि आकर गरदन नापूँ।"

वालंटियर—"हम सड़क पर खड़े हैं, दूकान पर नहीं।"

कांस्टेबिल का अभीष्ट अपनी कारगुज़ारी दिखाना था। वह सेठजी को ख़ुश करके कुछ इनाम-इकराम भी लेना चाहता था। उसने वालंटियरों को अपशब्द कहे, और जब उन्होंने उसकी कुछ परवा न की, तो एक वालंटियर को इतनी ज़ोर से धक्का दिया कि वह बेचारा मुँह के बल ज़मीन पर गिर पड़ा। कई वालंटियर इधर-उधर से आकर जमा हो गए। कई सिपाही भी आ पहुँचे। दर्शक-वृंद को ऐसी घटनाओं में मज़ा आता ही है। उनकी भीड़ लग गई। किसी ने हाँक लगाई—'महात्मा गांधी की जय।' औरों ने भी उसके सुर में सुर मिलाया, देखते-देखते एक जन-समूह एकत्र हो गया।

एक दर्शक ने कहा—"क्या है लाला चंदूमल? अपनी दूकान के सामने इन ग़रीबों की यह दुर्गति करा रहे हो, और तुम्हें ज़रा भी लज्जा नहीं आती? कुछ भगवान् का भी डर है या नहीं?"

सेठजी ने कहा—"मुझसे क़सम ले लो, जो मैंने किसी सिपाही से कुछ कहा हो। ये लोग अनायास बेचारों के पीछे पड़ गए। मुझे नाहक़ बदनाम करते हो।"

एक सिपाही—"लालाजी, आप ही ने तो कहा था कि ये दोनो वालंटियर मेरे ग्राहकों को छेड़ रहे हैं। अब आप निकले जाते हैं।"

चंदूमल—"बिलकुल झूठ, सरासर झूठ, सोलहोआना झूठ। तुम लोग अपनी कारगुज़ारी की धुन में इतने उलझ पड़े। ये

बेचारे तो दूकान से बहुत दूर खड़े थे। न किसी से बोलते थे, न चालते थे। तुमने ज़बरदस्ती ही इन्हें गरदनी देनी शुरू की। मुझे अपना सौदा बेचना है कि किसी से लड़ना।"

दूसरा सिपाही—"लालाजी, हो बड़े होशियार! आग लगाकर अलग हो गए। तुम न कहते, तो हमें क्या पड़ी थी कि इन लोगों को धक्के देते? दारोग़ाजी ने भी हमको ताकीद कर दी थी कि सेठ चंदूमल की दूकान का विशेष ध्यान रखना। वहाँ कोई वालंटियर न आए। तब हम लोग आए थे। तुम फ़रियाद न करते, तो दारोग़ाजी हमारी तैनाती ही क्यों करते?"

चंदूमल—"दारोग़ाजी को अपनी कारगुज़ारी दिखानी होगी। मैं इनके पास क्यों फ़रियाद करने जाता? सभी लोग कांग्रेस के दुश्मन हो रहे हैं। थानेवाले तो उसके नाम से ही जलते हैं। क्या मैं शिकायत करता, तभी तुम्हारी तैनाती होती?"

इतने में किसी ने थाने में इत्तिला की कि चंदूमल की दूकान पर कांस्टेबिलों और वालंटियरों में मार-पीट हो गई। कांग्रेस के दफ़्तर में ख़बर पहुँची। ज़रा देर में सशस्त्र पुलिस को लेकर थानेदार और इंस्पेक्टर साहब आ पहुँचे। उधर कांग्रेस के कर्मचारी भी दल-बल-सहित दौड़े। समूह और बढ़ा। बार-बार जय-जयकार की ध्वनि उठने लगी। कांग्रेस और पुलिस के नेताओं में वाद-विवाद होने लगा। परिणाम यह हुआ कि पुलिसवालों ने दोनो को हिरासत में लिया, और थाने की ओर चले।

पुलिस-अधिकारियों के चले जाने के बाद सेठजी ने कांग्रेस के प्रधान से कहा—"आज मुझे मालूम हुआ कि ये लोग वालंटियरों पर इतना घोर अत्याचार करते हैं।"

प्रधान—"तब तो दो वालंटियरों का फँसना व्यर्थ नहीं हुआ। इस विषय में अब तो आपको कोई शंका नहीं, हम कितने

लड़ाकू, कितने द्रोही, कितने शांति-भंगकारी हैं, यह तो आपको ख़ूब मालूम हो गया होगा ?"

चंदूमल—"जी हाँ, ख़ूब मालूम हो गया।"

प्रधान—"आपकी शहादत तो अवश्य ही होगी।"

चंदूमल—"होगी, तो मैं भी साफ़-साफ़ कह दूँगा, चाहे बने या बिगड़े, पुलिस की सख़्ती अब नहीं देखी जाती। मैं भी भ्रम में पड़ा हुआ था।"

मंत्री—"पुलिसवाले आपको दबावेंगे बहुत।"

चंदूमल—"एक नहीं, सौ दबाव पड़ें, मैं झूठ कभी न बोलूँगा। सरकार उस दरबार में साथ न जायगी।"

मंत्री—"अब तो हमारी लाज आपके हाथ है।"

चंदूमल—"मुझे आप देश का द्रोही न पावेंगे।"

यहाँ से प्रधान और मंत्री तथा अन्य पदाधिकारी चले, तो मंत्रीजी ने कहा—"आदमी सच्चा जान पड़ता है।"

प्रधान—(संदिग्ध भाव से) "कल तक आप ही सिद्ध हो जायगा।"

(३)

शाम को इंस्पेक्टर पुलिस ने लाला चंदूमल को थाने में बुलाया और कहा—"आपको शहादत देनी होगी। हम आपकी तरफ़ से बेफ़िक्र हैं।"

चंदूमल बोले—"हाज़िर हूँ।"

इंस्पेक्टर—"वालंटियरों ने कांस्टेबिलों को गालियाँ दीं ?"

चंदूमल—"मैंने नहीं सुनीं।"

इंस्पेक्टर—"सुनी या नहीं सुनीं, यह बहस नहीं। आपको यह कहना होगा। वे ख़रीदारों को धक्के देकर हटाते थे, हाथा-पाई करते थे, मारने की धमकी देते थे, ये सभी बातें कहनी

होगी। दारोग़ाजी, वह बयान लाइए, जो मैंने सेठजी के लिये लिखवाया है।"

चंदूमल—"मुझसे भरी-अदालत में झूठ न बोला जायगा। अपने हज़ारों जाननेवाले अदालत में होंगे। किस-किससे मुँह छिपाऊँगा। कहीं निकलने को जगह भी चाहिए?"

इंस्पेक्टर—"ये सब बातें निज के मुआमलों के लिये हैं, पोलिटिकल मुआमलों में झूठ-सच, शर्म और हया, किसी का भी ख़याल नहीं किया जाता।"

चंदूमल—"मुँह में कालिख लग जायगी।"

इंस्पेक्टर—"सरकार की निगाह में इज़्ज़त चौगुनी हो जायगी।"

चंदूमल—(सोचकर) "जी नहीं, गवाही न दे सकूँगा। कोई और गवाह बना लीजिए।"

इंस्पेक्टर—"याद रखिए, यह इज़्ज़त ख़ाक में मिल जायगी।"

चंदूमल—"मिल जाय, मजबूरी है।"

इंस्पेक्टर—"अमन-सभा के कोषाध्यक्ष का पद छिन जायगा।"

चंदूमल—"उससे कौन रोटियाँ चलती हैं?"

इंस्पेक्टर—"बंदूक़ का लाइसंस छिन जायगा।"

चंदूमल—"छिन जाय, बला से!"

इंस्पेक्टर—"इनकम-टैक्स की जाँच फिर से होगी!"

चंदूमल—"ज़रूर कराइए। यह तो मेरे मन की बात हुई।"

इंस्पेक्टर—"बैठने को कुरसी न मिलेगी।"

चंदूमल—"कुरसी लेकर चाटूँ? दिवाला तो निकला जा रहा है।"

इंस्पेक्टर—"अच्छी बात है। तशरीफ़ ले जाइए। कभी तो आप पंजे में आवेंगे।"

(४)

दूसरे दिन इसी समय कांग्रेस के दफ़्तर में कल के लिये

कार्य-क्रम निश्चित किया जा रहा था। प्रधान ने कहा—"सेठ चंदूमल की दूकान पर धरना देने के लिये दो स्वयंसेवक भेजिए।"

मंत्री—"मेरे विचार में वहाँ अब धरना देने की ज़रूरत नहीं।"

प्रधान—"क्यों? उन्होंने अभी प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर तो नहीं किए?"

मंत्री—"हस्ताक्षर नहीं किए, पर हमारे मित्र अवश्य हो गए। पुलिस की तरफ़ से गवाही न देना यही सिद्ध करता है। अधिकारियों का कितना दबाव पड़ा होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। यह नैतिक साहस विचारों में परिवर्तित हुए बिना नहीं आ सकता।"

प्रधान—"हाँ, कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है।"

मंत्री—"कुछ नहीं, महाशय! पूरी क्रांति कहिए। आप जानते हैं, ऐसे मुआमलों में अधिकारियों की अवहेलना करने का क्या अर्थ है? यह राजविद्रोह की घोषणा के समान है! संन्यास से इसका महत्त्व कम नहीं। आज ज़िले के सारे हाकिम उनके ख़ून के प्यासे हो रहे हैं, और आश्चर्य नहीं कि गवर्नर महोदय को भी इसकी सूचना दी गई हो।"

प्रधान—"और कुछ नहीं, तो उन्हें नियम का पालन करने ही के लिये प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तख़त कर देना चाहिए था। किसी तरह उन्हें यहाँ बुलाइए। अपनी बात तो रह जाय।"

मंत्री—"वह बड़ा आत्माभिमानी है, कभी न आवेगा। बल्कि हम लोगों की ओर से इतना अविश्वास देखकर संभव है, फिर उस दल में मिलने की चेष्टा करने लगे।"

प्रधान—"अच्छी बात है, आपको उन पर इतना विश्वास हो गया है, तो उनकी दूकान को छोड़ दीजिए। तब भी मैं यही

कहूँगा कि आपको स्वयं मिलने के बहाने से उन पर निगाह रखनी होगी।"

मंत्री—"आप नाहक़ इतना शक करते हैं।"

(५)

नौ बजे सेठ चंदूमल अपनी दूकान पर आए, तो वहाँ कोई भी वालंटियर न था। मुख पर मुस्किराहट की झलक आई। मुनीम से बोले—"कौड़ी चित पड़ी।"

मुनीम—"मालूम तो होता है। एक महाशय भी नहीं आए।"

चंदूमल—"न आए, और न आवेंगे। बाज़ी अपने हाथ रही। कैसा दाँव खेला—चारो चित।"

मुनीम—"पुलिसवाले तो दुश्मन हो गए।"

चंदूमल—"आप भी कैसी बातें करते हैं? इन्हें दोस्त बनाते कितनी देर लगती है। कहिए, अभी बुलाकर जूतियाँ सीधी करवाऊँ। टके के ग़ुलाम हैं, न किसी के दोस्त, न किसी के दुश्मन। सच कहिए, कैसा चकमा दिया?"

मुनीम—"बस, यही जी चाहता है कि आपके हाथ चूम लें। साँप भी मरा, और लाठी भी न टूटी। मगर कांग्रेसवाले भी टोह में होंगे।"

चंदूमल—"तो मैं भी तो मौजूद हूँ। वह डाल-डाल चलेंगे, तो मैं पात-पात चलूँगा। विलायती कपड़े की गाँठें निकलवाइए, और व्यापारियों को देना शुरू कीजिए। एक अठवारे में बेड़ा पार है।"

आप-बीती

(१)

साहित्य-सेवियों के जीवन में एक ऐसा समय आता है, जब पाठकगण उनके पास श्रद्धा-पूर्ण पत्र भेजने लगते हैं। कोई उनकी रचना-शैली की प्रशंसा करता है, कोई उनके सद्विचारों पर मुग्ध हो जाता है। लेखक को भी कुछ दिनों से यह सौभाग्य प्राप्त है, ऐसे पत्रों को पढ़कर उसका हृदय कितना गद्गद हो जाता है, इसे किसी साहित्य-सेवी ही से पूछना चाहिए। अपने फटे कंबल पर बैठा हुआ वह गर्व और आत्मगौरव की लहरों में डूब जाता है। भूल जाता है कि रात को गीली लकड़ी से भोजन पकाने के कारण सिर में कितना दर्द हो रहा था, खटमलों और मच्छड़ों ने रात-भर कैसे नींद हराम कर दी थी। 'मैं भी कुछ हूँ' यह अहंकार उसे एक क्षण के लिये उन्मत्त बना देता है। पिछले साल, सावन के महीने में, मुझे एक ऐसा ही पत्र मिला। उसमें मेरी क्षुद्र रचनाओं की दिल खोलकर दाद दी गई थी।

पत्र-प्रेषक महोदय स्वयं एक अच्छे कवि थे। मैं उनकी कविताएँ पत्रिकाओं में अक्सर देखा करता था। यह पत्र पढ़कर फूला न समाया। उसी वक्त जवाब लिखने बैठा। उस तरंग में जो कुछ लिख गया, इस समय याद नहीं। इतना ज़रूर याद है कि पत्र आदि से अंत तक प्रेम के उद्गारों से भरा हुआ था। मैंने कभी कविता नहीं की, और न कोई गद्य-काव्य ही लिखा; पर भाषा को जितना सँवार सकता था, उतना सँवारा। यहाँ तक कि जब पत्र समाप्त करके दुबारा पढ़ा, तो कविता का

आनंद आया। सारा पत्र भाव-लालित्य से परिपूर्ण था। पाँचवें दिन कवि महोदय का दूसरा पत्र आ पहुँचा। वह पहले पत्र से भी कहीं अधिक मर्मस्पर्शी था। 'प्यारे भैया!' कहकर मुझे संबोधित किया गया था; मेरी रचनाओं की सूची और प्रकाशकों के नाम-ठिकाने पूछे गए थे। अंत में यह शुभ समाचार था कि "मेरी पत्नीजी को आपके ऊपर बड़ी श्रद्धा है, वह बड़े प्रेम से आपकी रचनाओं को पढ़ती हैं। वही पूछ रही हैं कि आपका विवाह कहाँ हुआ है। आपकी संतानें कितनी हैं, तथा आपका कोई फ़ोटो भी है? हो, तो कृपया भेज दीजिए।" मेरी जन्म-भूमि और वंशावली का पता भी पूछा गया था। इस पत्र, विशेषतः इसके अंतिम समाचार, ने मुझे पुलकित कर दिया।

यह पहला ही अवसर था कि मुझे किसी महिला के मुख से, चाहे वह प्रतिनिधि द्वारा ही क्यों न हो, अपनी प्रशंसा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ग़रूर का नशा छा गया। धन्य है भगवान्! अब रमणियाँ भी मेरे कृत्य की सराहना करने लगीं! मैंने तुरंत उत्तर लिखा। जितने कर्णप्रिय शब्द मेरी स्मृति के कोष में थे, सब ख़र्च कर दिए। मैत्री और बंधुत्व से सारा पत्र भरा हुआ था। अपनी वंशावली का वर्णन किया। कदाचित् मेरे पूर्वजों का ऐसा कीर्ति-गान किसी भाट ने भी न किया होगा। मेरे दादा एक ज़मींदार के कारिंदे थे; मैंने उन्हें एक बड़ी रियासत का मैनेजर बतलाया। अपने पिता को, जो एक दफ़्तर में क्लर्क थे, उस दफ़्तर का प्रधानाध्यक्ष बना दिया। और, काश्तकारी को ज़मींदारी बना देना तो साधारण बात थी। अपनी रचनाओं की संख्या तो न बढ़ा सका, पर उनके महत्त्व, आदर और प्रचार का उल्लेख ऐसे शब्दों में किया, जो नम्रता की ओट में अपने गर्व को छिपाते हैं। कौन नहीं जानता कि बहुधा 'तुच्छ' का अर्थ उसके विपरीत होता है, और

'दीन' के माने कुछ और ही समझे जाते हैं। स्पष्ट रूप से अपनी बड़ाई करना उच्छृंखलता है; मगर सांकेतिक शब्दों से आप इसी काम को बड़ी आसानी से पूरा कर सकते हैं। ख़ैर, मेरा पत्र समाप्त हो गया, और तत्क्षण लेटर-बॉक्स के पेट में पहुँच गया।

इसके बाद दो सप्ताह तक कोई पत्र न आया। मैंने उस पत्र में अपनी गृहिणी की ओर से भी दो-चार समयोचित बातें लिख दी थीं। आशा थी, घनिष्ठता और भी घनिष्ठ होगी। कहीं कविता में मेरी प्रशंसा हो जाय, तो क्या पूछना! फिर तो साहित्य-संसार में मैं-ही-मैं नज़र आऊँ! इस चुप्पी से कुछ निराशा होने लगी; लेकिन इस डर से कि कहीं कविजी मुझे मतलबी अथवा Sentimental न समझ लें, कोई पत्र न लिख सका।

आश्विन का महीना था, और तीसरा पहर। रामलीला की धूम मची हुई थी। मैं अपने एक मित्र के घर चला गया था। ताश की बाज़ी हो रही थी। सहसा एक महाशय मेरा नाम पूछते हुए आए, और मेरे पास की कुरसी पर बैठ गए। मेरा उनसे कभी का परिचय न था, सोच रहा था, यह कौन आदमी हैं, और यहाँ कैसे आए। यार लोग उन महाशय की ओर देखकर आपस में इशारेबाज़ियाँ कर रहे थे। उनके आकार-प्रकार में कुछ नवीनता अवश्य थी। श्यामवर्ण, नाटा डील, मुख पर चेचक के दाग़, नंगा सिर, बाल सँवारे हुए, सिर्फ़ सादी क़मीज़, गले में फूलों की एक माला, पैरों में एक फ़ुल-बूट और हाथ में एक मोटी-सी पुस्तक!

मैंने विस्मित होकर नाम पूछा।

उत्तर मिला—"मुझे उमापतिनारायण कहते हैं।"

मैं उठकर उनके गले से लिपट गया। यह वही कवि महोदय

थे, जिनके कई प्रेम-पत्र मुझे मिल चुके थे। कुशल-समाचार पूछा। पान-इलायची से ख़ातिर की। फिर पूछा—"आपका आना कैसे हुआ?"

उन्होंने कहा—"मकान पर चलिए, तो सब वृत्तांत कहूँगा। मैं आपके घर गया था। वहाँ मालूम हुआ, आप यहाँ हैं। पूछता हुआ चला आया।"

मैं उमापतिजी के साथ घर चलने को उठ खड़ा हुआ। जब वह कमरे के बाहर निकल गए, तो मेरे मित्र ने पूछा—"यह कौन साहब हैं?"

मैं—"मेरे एक नए दोस्त हैं।"

मित्र—"ज़रा इनसे होशियार रहिएगा। मुझे तो उचक्के-से मालूम होते हैं।"

मैं—"आपका गुमान ग़लत है। आप हमेशा आदमी को उसकी सज-धज से परखा करते हैं। पर मनुष्य कपड़ों में नहीं, हृदय में रहता है।"

मित्र—"ख़ैर, ये रहस्य की बातें तो आप जानें; मैं आपको आगाह किए देता हूँ।"

मैंने इसका कुछ जवाब नहीं दिया। उमापतिजी के साथ घर आया। बाज़ार से भोजन मँगवाया। फिर बातें होने लगीं। उन्होंने मुझे अपनी कई कविताएँ सुनाईं। स्वर बहुत सरस और मधुर था।

कविताएँ तो मेरी समझ में ख़ाक न आईं, पर मैंने तारीफ़ों के पुल बाँध दिए। झूम-झूमकर वाह-वाह करने लगा, जैसे मुझसे बढ़कर कोई काव्य-रसिक संसार में न होगा। संध्या को हम रामलीला देखने गए। लौटकर उन्हें फिर भोजन कराया। अब उन्होंने अपना वृत्तांत सुनाना शुरू किया। इस समय वह अपनी

पत्नी को लेने के लिये कानपुर जा रहे थे । उनका मकान कानपुर ही में था । उनका विचार था कि एक मासिक-पत्रिका निकालें। उनकी कविताओं के लिये एक प्रकाशक १,०००) देता था ; पर उनकी इच्छा तो यह थी कि उन्हें पहले पत्रिका में क्रमशः निकालकर फिर अपनी ही लागत से पुस्तकाकार छपवावें। कानपुर में उनकी ज़मींदारी भी थी ; पर वह साहित्यिक जीवन व्यतीत करना चाहते थे। ज़मींदारी से इन्हें घृणा थी । उनकी स्त्री एक कन्या-विद्यालय में प्रधानाध्यापिका थी । आधी रात तक बातें होती रहीं । अब उनमें से अधिकांश याद नहीं। हाँ, इतना याद है कि हम दोनो मिलकर अपने भावी जीवन का एक कार्य-क्रम तैयार कर लिया था । मैं अपने भाग्य को सराहता था कि भगवान् ने बैठे-बिठाए ऐसा सच्चा मित्र भेज दिया। आधी रात बीत गई, तब सोए । उन्हें दूसरे दिन ८ बजे की गाड़ी से जाना था। मैं जब सोकर उठा, तब ७ बज चुके थे । उमापतिजी मुँह-हाथ धोए तैयार बैठे थे । बोले—"अब आज्ञा दीजिए, लौटते समय इधर ही से जाऊँगा। इस समय आपको कुछ कष्ट दे रहा हूँ। क्षमा कीजिएगा। मैं कल चला, तो प्रातःकाल के ४ बजे थे । २ बजे रात से पड़ा जाग रहा था कि कहीं नींद न आ जाय। बल्कि यों समझिए कि सारी रात जागना पड़ा । चलने की चिंता लगी हुई थी। गाड़ी में बैठा, तो झपकियाँ आने लगीं । कोट उतार-कर रख दिया, और लेट गया, तुरंत नींद आ गई । मुग़लसराय में नींद खुली। कोट ग़ायब ! नीचे, ऊपर, चारो तरफ़ देखा, कहीं पता नहीं। समझ गया, किसी महाशय ने उड़ा दिया। सोने की सज़ा मिल गई । कोट में ४०) ख़र्च के लिये रक्खे थे ; वे भी उसके साथ उड़ गए। आप मुझे ४०) दें। पत्नी को मायके से लाना है ; कुछ कपड़े वग़ैरह ले जाने पड़ेंगे। फिर ससुराल में सैकड़ों तरह

के नेग-जोग लगते हैं। क़दम-क़दम पर रुपए ख़र्च होते हैं! न ख़र्च कीजिए, तो हँसी हो। मैं इधर से लौटूँगा, तो देता जाऊँगा।"

मैं बड़े संकोच में पड़ गया। एक बार पहले भी धोखा खा चुका था। तुरंत भ्रम हुआ, कहीं अब की फिर वही दशा न हो, लेकिन शीघ्र ही मन के इस अविश्वास पर लज्जित हुआ। संसार में सभी मनुष्य एक-से नहीं होते। यह बेचारे इतने सज्जन हैं। इस समय संकट में पड़ गए हैं। और, मैं मिथ्या संदेह में पड़ा हुआ हूँ। घर में आकर पत्नी से कहा—"तुम्हारे पास कुछ रुपए तो नहीं हैं?"

स्त्री—"क्या करोगे?"

मैं—"मेरे जो मित्र कल आए हैं, उनके रुपए किसी ने गाड़ी में चुरा लिए। उन्हें स्त्री को बिदा कराने ससुराल जाना है। लौटती बार देते जायँगे।"

पत्नी ने व्यंग्य करके कहा—"तुम्हारे यहाँ जितने मित्र आते हैं, सब तुम्हें ठगने ही आते हैं। सभी संकट में पड़े रहते हैं। मेरे पास रुपए नहीं हैं।"

मैंने ख़ुशामद करते हुए कहा—"लाओ, दे दो, बेचारे तैयार खड़े हैं। गाड़ी छूट जायगी।"

स्त्री—"कह दो, इस समय घर में रुपए नहीं हैं।"

मैं—"यह कह देना आसान नहीं है। इसका अर्थ तो यह है कि मैं दरिद्र ही नहीं, मित्र-हीन भी हूँ; नहीं तो क्या मेरे लिए ५०) का भी इंतज़ाम न हो सकता। उमापति को कभी विश्वास न आवेगा कि मेरे पास रुपए नहीं हैं। इससे तो कहीं अच्छा हो कि साफ़-साफ़ यह कह दिया जाय कि 'हमको आप पर भरोसा नहीं है, हम आपको रुपए नहीं दे सकते।' कम-से-कम अपना पर्दा तो ढका रह जायगा।"

श्रीमतीजी ने झुँझलाकर संदूक की कुंजी मेरे आगे फेंक दी, और कहा—"तुम्हें जितनी बहस करनी आती है, उतना कहीं आदमियों को परखना आता, तो अब तक आदमी हो गए होते! ले जाओ, दे दो। किसी तरह तुम्हारी मरजाद तो बनी रहे। लेकिन उधार समझकर मत दो, यह समझ लो कि पानी में फेंके देते हैं।"

मुझे आम खाने से काम था, पेड़ गिनने से नहीं; चुपके से रुपए निकाले, और लाकर उमापति को दे दिए। फिर लौटती बार आकर रुपए दे जाने का आश्वासन देकर वह चल दिए।

सातवें दिन शाम को वह घर से लौट आए। उनकी पत्नी और पुत्री भी साथ थीं। मेरी पत्नी ने शकर और दही खिलाकर उनका स्वागत किया। 'मुँह-दिखाई' के २) दिए। उनकी पुत्री को भी मिठाई खाने को २) दिए। मैंने समझा था, उमापति आते-ही-आते मेरे रुपए गिनने लगेंगे; लेकिन उन्होंने पहर रात गए तक रुपयों का नाम भी न लिया। जब मैं घर में सोने गया, तो बीवी से कहा—"इन्होंने तो रुपए नहीं दिए जी!"

पत्नी ने व्यंग्य से हँसकर कहा—"तो क्या सचमुच तुम्हें आशा थी कि वह आते-ही-आते तुम्हारे हाथ में रुपए रख देंगे! मैंने तो तुमसे पहले ही कह दिया था कि फिर पाने की आशा से रुपए मत दो; यही समझ लो कि किसी मित्र को सहायतार्थ दे दिए। लेकिन तुम भी विचित्र आदमी हो।"

मैं लज्जित और चुप हो रहा। उमापतिजी दो दिन रहे। मेरी पत्नी उनका यथोचित आदर-सत्कार करती रही। लेकिन मुझे उतना संतोष न था। मैं समझता था, इन्होंने मुझे धोखा दिया।

तीसरे दिन प्रातःकाल वह चलने को तैयार हुए। मुझे अब भी आशा थी कि वह रुपए देकर जायँगे। लेकिन जब उनकी नई राम-कहानी सुनी, तो सन्नाटे में आ गया। वह अपना बिस्तरा

बाँधते हुए बोले—"बड़ा ही खेद है कि मैं अब की बार आपके रुपए न दे सका। बात यह है कि मकान पर पिताजी से भेंट ही नहीं हुई। वह तहसील-वसूल करने गाँव चले गए थे, और मुझे इतना अवकाश न था कि गाँव तक जाता। रेल का रास्ता नहीं है। बैलगाड़ियों पर जाना पड़ता है। इसलिये मैं एक दिन मकान पर रहकर ससुराल चला गया। वहाँ सब रुपए ख़र्च हो गए। बिदाई के रुपए न मिल जाते, तो यहाँ तक आना कठिन था। अब मेरे पास रेल का किराया तक नहीं है। आप मुझे २५) और दे दें। मैं वहाँ जाते-ही-जाते भेज दूँगा। मेरे पास इक्के तक का किराया नहीं है।"

जी में तो आया कि टका-सा जवाब दे दूँ; पर इतनी अशिष्टता न हो सकी। फिर पत्नी के पास गया, और रुपए माँगे। अब की उन्होंने बिना कुछ कहे-सुने रुपए निकालकर मेरे हवाले कर दिए। मैंने उदासीन भाव से रुपए उमापतिजी को दे दिए। जब उनकी पुत्री और अर्द्धांगिनी जीने से उतर गईं, तो उन्होंने बिस्तर उठाया, और मुझे प्रणाम किया। मैंने बैठे-बैठे सिर हिलाकर जवाब दिया। उन्हें सड़क तक पहुँचाने भी न गया।

एक सप्ताह बाद उमापतिजी ने लिखा—"मैं कार्य-वश बरार जा रहा हूँ। लौटकर रुपए भेजूँगा।"

१५ दिन बाद मैंने एक पत्र लिखकर कुशल-समाचार पूछे। कोई उत्तर न आया। १५ दिन बाद फिर रुपयों का तक़ाज़ा किया। उसका भी कुछ जवाब न मिला। एक महीने बाद फिर तक़ाज़ा किया। उसका भी यही हाल! एक रजिस्ट्री-पत्र भेजा। वह पहुँच गया, इसमें संदेह नहीं; लेकिन जवाब उसका भी न आया। समझ गया, समझदार जोरू ने जो कुछ कहा था, वह अक्षरशः सत्य था। निराश होकर चुप हो रहा।

इन पत्रों की चर्चा भी मैंने पत्नी से नहीं की, और न उसी ने कुछ इस बारे में पूछा।

(२)

इस कपट-व्यवहार का मुझपर वही असर पड़ा, जो साधारणतः स्वाभाविक रूप से पड़ना चाहिए था। कोई ऊँची और पवित्र आत्मा इस छल पर भी अटल रह सकती थी। उसे यह समझकर संतोष हो सकता था कि मैंने अपने कर्तव्य को पूरा कर दिया। यदि ऋणी ने ऋण नहीं चुकाया, तो मेरा क्या अपराध! पर मैं इतना उदार नहीं हूँ। यहाँ तो महीनों सिर खपाता हूँ, क़लम घिसता हूँ, तब जाकर नगद्-नारायण के दर्शन होते हैं।

इसी महीने की बात है। मेरे यंत्रालय में एक नया कंपोज़ीटर बिहार-प्रांत से आया। काम में चतुर जान पड़ता था। मैंने उसे १५) मासिक पर नौकर रख लिया। पहले किसी अँगरेज़ी स्कूल में पढ़ता था। असहयोग के कारण पढ़ना छोड़ बैठा था। घरवालों ने किसी प्रकार की सहायता देने से इनकार किया। विवश होकर उसने जीविका के लिये यह पेशा अख़्तियार कर लिया था। कोई १७-१८ वर्ष की उम्र थी। स्वभाव में गंभीरता थी। बातचीत बहुत सलीक़े से करता था। यहाँ आने के तीसरे दिन उसे बुख़ार आने लगा। दो-चार दिन तो ज्यों-त्यों करके काटे, लेकिन जब बुख़ार न छूटा, तो घबरा गया। घर की याद आई। और कुछ न सही, घरवाले क्या दवा-दर्पन भी न करेंगे! मेरे पास आकर बोला—"महाशय, मैं बीमार हो गया हूँ। आप कुछ रुपए दे दें, तो घर चला जाऊँ। वहाँ जाते ही रुपयों का प्रबंध करके भेज दूँगा।" वह वास्तव में बीमार था। मैं उससे भली भाँति परिचित भी था। यह भी जानता था कि यहाँ रहकर वह कभी स्वास्थ्य-लाभ नहीं कर सकता। उसे सचमुच सहायता की ज़रूरत थी, पर मुझे शंका हुई कि कहीं यह भी रुपए

हज़म न कर जाय। जब एक विचारशील, सुयोग्य, विद्वान् पुरुष धोखा दे सकता है, तो ऐसे अर्द्ध-शिक्षित नवयुवक से कैसे यह आशा की जाय कि वह अपने वचन का पालन करेगा ?

मैं कई मिनट तक घोर संकट में पड़ा रहा। अंत में बोला—"भई, मुझे तुम्हारी दशा पर बहुत दुःख है; मगर मैं इस समय कुछ न कर सकूँगा। बिलकुल ख़ाली हाथ हूँ। खेद है।"

यह कोरा जवाब सुनकर उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। वह बोला—"आप चाहें, तो कुछ-न-कुछ प्रबंध अवश्य कर सकते हैं। मैं जाते ही आपके रुपए भेज ूँगा।"

मैंने दिल में कहा, यहाँ तो तुम्हारी नियत साफ़ है, लेकिन घर पहुँचकर भी यही नियत रहेगी, इसका क्या प्रमाण है। नियत साफ़ रहने पर भी मेरे रुपए दे सकोगे या नहीं, यही कौन जाने ? कम-से-कम तुमसे वसूल करने का मेरे पास कोई साधन नहीं। प्रकट में कहा—"इसमें मुझे कोई संदेह नहीं, लेकिन खेद है, मेरे पास रुपए नहीं हैं। हाँ, तुम्हारी जितनी तनख़्वाह निकलती हो, उसे ले सकते हो।"

उसने कुछ जवाब नहीं दिया। किं-कर्तव्य-विमूढ़ की तरह एक बार आकाश की ओर देखा, और चला गया। मेरे हृदय में कठिन वेदना हुई। अपनी स्वार्थपरता पर ग्लानि हुई। पर अंत को मैंने जो निश्चय किया था, उसी पर स्थिर रहा। इस विचार से मन को संतोष हो गया कि मैं ऐसा कहाँ का धनी हूँ, जो यों रुपए पानी में फ़ेंकता फिरूँ।

यह है उस कपट का परिणाम, जो मेरे कवि-मित्र ने मेरे साथ किया।

मालूम नहीं, आगे चलकर इस निर्दयता का क्या कुफल निकलता ; पर सौभाग्य से उसकी नौबत न आई। ईश्वर को मुझे इस

अपयश से बचाना मंज़ूर था। जब वह आँखों में आँसू भरे मेरे पास से चला, तो कार्यालय के एक क्लर्क, पं० पृथ्वीनाथ, से उसकी भेंट हो गई। पंडितजी ने सब हाल पूछा। पूरा वृत्तांत सुन लेने पर बिना किसी आगे-पीछे के उन्होंने १५) निकालकर उसे दे दिए। ये रुपए उन्हें कार्यालय के मुनीम से उधार लेने पड़े। मुझे यह हाल मालूम हुआ, तो हृदय के ऊपर से एक बोझ-सा उतर गया। अब वह बेचारा मज़े में अपने घर पहुँच जायगा। यह संतोष मुफ़्त ही में प्राप्त हो गया। कुछ अपनी नीचता पर लज्जा भी आई। मैं लंबे-लंबे लेखों में दया, मनुष्यता और सद्व्यवहार का उपदेश किया करता था; पर अवसर पड़ने पर साफ़ जान बचाकर निकल गया! और, यह बेचारा क्लर्क, जो मेरे लेखों का भक्त था, इतना उदार और दयाशील निकला! गुरु गुड़ ही रहे, चेला शक्कर हो गए। ख़ैर, इसमें भी एक व्यंग्य-पूर्ण संतोष था कि मेरे उपदेशों का असर मुझ पर न हुआ, न सही; दूसरों पर तो हुआ। चिराग़ के तले अँधेरा रहा, तो क्या हुआ, उसका प्रकाश तो फैल रहा है। पर कहीं बचा को रुपए न मिले (और शायद ही मिलें, इसकी बहुत कम आशा है), तो ख़ूब छकेंगे। तब हज़रत को आड़े हाथों लूँगा। किंतु मेरी यह अभिलाषा न पूरी हुई। पाँचवें दिन रुपए आ गए। ऐसी, और आँखें खोल देनेवाली यातना मुझे और कभी नहीं मिली थी। ख़ैरियत यही थी कि मैंने इस घटना की चर्चा स्त्री से नहीं की थी; नहीं तो मुझे घर में रहना भी मुश्किल हो जाता।

(३)

उपर्युक्त वृत्तांत लिखकर मैंने एक पत्रिका में भेज दिया। मेरा उद्देश्य केवल यह था कि जनता के सामने कपट-व्यवहार के कुपरिणाम का एक दृश्य रक्खूँ। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कि इसका कोई प्रत्यक्ष फल निकलेगा। इसी से जब चौथे दिन अनायास

मेरे पास ४०) का मनीआॅर्डर पहुँचा, तो मेरे आनंद की सीमा न रही। प्रेषक वही महाशय थे—उमापति। कूपन पर केवल 'क्षमा' लिखा हुआ था। मैंने रुपए ले जाकर पत्नी के हाथों में रख दिए, और कूपन दिखाया।

उसने अनमने भाव से कहा—"इन्हें ले जाकर यत्न से अपने संदूक़ में रक्खो। तुम ऐसे लोभी प्रकृति के मनुष्य हो, यह मुझे आज ज्ञात हुआ। थोड़े-से रुपयों के ज़िये किसी के पीछे पंजे झाड़कर पड़ जाना सज्जनता नहीं। जब कोई शिक्षित और विचारशील मनुष्य अपने वचन का पालन न करे, तो यही समझना चाहिए कि वह विवश है। विवश मनुष्य को बार-बार तक़ाज़ों से लज्जित करना भलमनसी नहीं है। कोई मनुष्य, जिसका सर्वथा नैतिक पतन नहीं हो गया है, यथाशक्ति किसी को धोखा नहीं देता। इन रुपयों को तब तक अपने पास नहीं रक्खूँगी, जब तक उमापति का कोई पत्र न आ जायगा कि रुपए भेजने में इतना विलंब क्यों हुआ।"

पर इस समय मैं ऐसी उदार बातें सुनने को तैयार न था; डूबा हुआ धन मिल गया, इसकी ख़ुशी से फूला न समाता था।

आभूषण

(१)

आभूषणों की निंदा करना हमारा उद्देश्य नहीं। हम असहयोग का उत्पीड़न सह सकते हैं; पर ललनाओं के निर्दय, घातक वाक्य-बाणों को नहीं ओज सकते। तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि इस तृष्णा की पूर्ति के लिये जितना त्याग किया जाता है, उसका सदुपयोग करने से महान् पद प्राप्त हो सकता है।

यद्यपि हमने किसी रूप-हीना महिला को आभूषणों की सजावट से रूपवती होते नहीं देखा, तथापि हम यह भी मान लेते हैं कि रूप के लिये आभूषणों की उतनी ही ज़रूरत है, जितनी घर के लिये दीपक की। किंतु शारीरिक शोभा के लिये हम मन को कितना मलिन, चित्त को कितना अशांत और आत्मा को कितना कलुषित बना लेते हैं, इसका हमें कदाचित् ज्ञान ही नहीं होता। इस दीपक की ज्योति में आँखें धुँधली हो जाती हैं। यह चमक-दमक कितनी ईर्ष्या, कितने द्वेष, कितनी प्रतिस्पर्द्धा, कितनी दुश्चिंता और कितनी दुराशा का कारण है; इसकी केवल कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्हें भूषण नहीं, दूषण कहना अधिक उपयुक्त है। नहीं तो यह कब हो सकता था कि कोई नवबधू, पति के घर आने के तीसरे ही दिन, अपने पति से कहती कि "मेरे पिता ने तुम्हारे पल्ले बाँधकर मुझे तो कुएँ में ढकेल दिया!"

शीतला आज अपने गाँव के ताल्लुक़ेदार कुँवर सुरेशसिंह की नवविवाहिता बधू को देखने गई थी। उसके सामने ही वह मंत्र-मुग्ध-सी हो गई। बहू के रूप-लावण्य पर नहीं, उसके आभूषणों की जगमगाहट पर उसकी टकटकी लगी रही। और, वह जब से लौटकर घर आई,

उसकी छाती पर साँप लोटता रहा। अंत को ज्यों ही उसका पति घर आया, वह उस पर बरस पड़ी, और दिल में भरा हुआ ग़ुबार पूर्वोक्त शब्दों में निकल पड़ा। शीतला के पति का नाम विमलसिंह था। उसके पुरखे किसी ज़माने में इलाक़ेदार थे। इस गाँव पर भी उन्हीं का सोलहो आने अधिकार था। लेकिन अब इस घर की दशा हीन हो गई है। सुरेशसिंह के पिता ज़मींदारी के काम में दक्ष थे। विमलसिंह का सब इलाक़ा किसी-न-किसी प्रकार से उनके हाथ आ गया। विमल के पास सवारी का टट्टू भी न था; उसे दिन में दो बार भोजन भी मुशकिल से मिलता था। उधर सुरेश के पास हाथी, मोटर और कई घोड़े थे; दस-पाँच बाहर के आदमी नित्य द्वार पर पड़े रहते थे। पर इतनी विषमता होने पर भी दोनो में भाई-चारा निभाया जाता था, शादी-ब्याह में, मुँडन-छेदन में परस्पर आना-जाना होता रहता था। सुरेश विद्या-प्रेमी थे, हिंदुस्थान में ऊँची शिक्षा समाप्त करके वह योरप चले गए, और सब लोगों की शंकाओं के विपरीत वहाँ से आर्य-सभ्यता के परम भक्त बनकर लौटे थे। वहाँ के जड़वाद, कृत्रिम भोग-लिप्सा और अमानुषिक मदांधता ने उनकी आँखें खोल दी थीं। पहले वह घरवालों के बहुत ज़ोर देने पर भी विवाह करने को राज़ी नहीं हुए। लड़की से पूर्व-परिचय हुए विना प्रणय नहीं कर सकते थे। पर योरप से लौटने पर उनके वैवाहिक विचारों में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। उन्होंने उसी पहले की कन्या से, विना उसके आचार-विचार जाने हुए, विवाह कर लिया। अब वह विवाह को प्रेम का बंधन नहीं, धर्म का बंधन समझते थे। उसी सौभाग्यवती वधू को देखने के लिये आज शीतला, अपनी सास के साथ, सुरेश के घर गई थी। उसी के आभूषणों की छटा देखकर वह मर्माहत-सी हो गई है। विमल ने व्यथित होकर कहा—"तो माता-पिता

से कहा होता, सुरेश से ब्याह कर देते। वह तुम्हें गहनों से लाद सकते थे।"

शीतला—"तो गाली क्यों देते हो?"

विमल—"गाली नहीं देता, बात कहता हूँ। तुम-जैसी सुंदरी को उन्होंने नाहक़ मेरे साथ ब्याहा।"

शीतला—"लजाते तो हो नहीं, उलटे और ताने देते हो!"

विमल—"भाग्य मेरे वश में नहीं है। इतना पढ़ा भी नहीं हूँ कि कोई बड़ी नौकरी करके रुपए कमाऊँ।"

शीतला—"यह क्यों नहीं कहते कि प्रेम ही नहीं है। प्रेम हो, तो कंचन बरसने लगे।"

विमल—"तुम्हें गहनों से बहुत प्रेम है?"

शीतला—"सभी को होता है। मुझे भी है।"

विमल—"अपने को अभागनी समझती हो?"

शीतला—"हूँ ही; समझना कैसा? नहीं तो क्या दूसरे को देखकर तरसना पड़ता?"

विमल—"गहने बनवा दूँ, तो अपने को भाग्यवती समझने लगोगी?"

शीतला—(चिढ़कर) "तुम तो इस तरह पूछ रहे हो, जैसे सुनार दरवाज़े पर बैठा है।"

विमल—"नहीं, सच कहता हूँ, बनवा दूँगा। हाँ, कुछ दिन सबर करना पड़ेगा।"

(२)

समर्थ पुरुषों को बात लग जाती है, तो वे प्राण ले लेते हैं। सामर्थ्य-हीन पुरुष अपनी ही जान पर खेल जाता है। विमलसिंह ने घर से निकल जाने की ठानी। निश्चय किया, या तो इसे गहनों से ही लाद दूँगा, या वैधव्य-शोक से; या तो आभूषण ही पहनेगी या सेंदुर को भी तरसेगी।

दिन-भर वह चिंता में डूबा पड़ा रहा। शीतला को उसने प्रेम से संतुष्ट करना चाहा था। आज अनुभव हुआ कि नारी का हृदय प्रेम-पाश से नहीं बँधता, कंचन के पाश ही से बँध सकता है। पहर रात जाते-जाते वह घर से चल खड़ा हुआ। पीछे फिरकर भी न देखा। ज्ञान से जागे हुए विराग में चाहे मोह का संस्कार हो, पर नैराश्य से जागा हुआ विराग अचल होता है। प्रकाश में इधर-उधर की वस्तुओं को देखकर मन विचलित हो सकता है। पर अंधकार में किसका साहस है, जो लीक से जौ-भर भी हट सके।

विमल के पास विद्या न थी, कला-कौशल भी न था; उसे केवल अपने कठिन परिश्रम और कठिन आत्मत्याग ही का आधार था। वह पहले कलकत्ते गया। वहाँ कुछ दिन तक एक सेठ की दरबानी करता रहा। वहाँ जो सुन पाया कि रंगून में मज़दूरी अच्छी मिलती है, तो रंगून जा पहुँचा; और बंदर पर माल चढ़ाने-उतारने का काम करने लगा।

कुछ तो कठिन श्रम, कुछ खाने-पीने का असंयम और कुछ जल-वायु की ख़राबी के कारण वह बीमार हो गया। शरीर दुर्बल हो गया, मुख की कांति जाती रही; फिर भी उससे ज़्यादा मेहनती मज़दूर बंदर पर दूसरा न था। और मज़दूर मज़दूर थे, पर यह मज़दूर तपस्वी था। मन में जो कुछ ठान लिया था, उसे पूरा करना ही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था।

उसने घर को अपना कोई समाचार न भेजा। अपने मन से तर्क किया, घर में कौन मेरा हितू है? गहनों के सामने मुझे कौन पूछता है? उसकी बुद्धि यह रहस्य समझने में असमर्थ थी कि आभूषणों की लालसा रहने पर भी प्रणय का पालन किया जा सकता है, और मज़दूर प्रातःकाल सेरों मिठाई खाकर जल-पान

करते; दिन-भर—दम-दम-भर पर—गाँजे, चरस और तमाखू के दम लगाते; अवकाश पाते, तो बाज़ार की सैर करते थे। कितनों ही को शराब का भी शौक़ था। पैसों के बदले रुपए कमाते, तो पैसों की जगह रुपए ख़र्च भी कर डालते थे। किसी की देह पर साबित कपड़े तक न थे। पर विमल उस गिनती के दो-चार मज़दूरों में से था, जो संयम से रहते थे, जिनके जीवन का उद्देश्य खा-पीकर मर जाने के सिवा कुछ और भी था। थोड़े ही दिनों में उसके पास थोड़ी-सी संपत्ति हो गई। धन के साथ और मज़दूरों पर दबाव भी बढ़ने लगा। यह प्रायः सभी जानते थे कि विमल जाति का कुलीन ठाकुर है। सब ठाकुर ही कहकर उसे पुकारते। संयम और आचार सम्मान-सिद्धि के मंत्र हैं। विमल मज़दूरों का नेता और महाजन हो गया।

विमल को रंगून में काम करते तीन वर्ष हो चुके थे। संध्या हो गई थी। वह कई मज़दूरों के साथ समुद्र के किनारे बैठे बातें कर रहा था।

एक मज़दूर ने कहा—"यहाँ की सभी स्त्रियाँ निठुर होती हैं। बेचारा झींगुर दस बरस से उस बर्मी स्त्री के साथ रहता था। कोई अपनी ब्याही जोरू से भी इतना प्रेम न करता होगा। उस पर इतना विश्वास करता था कि जो कुछ कमाता, उसके हाथ में रख देता। तीन लड़के थे। अभी कल तक दोनो साथ-साथ खाकर लेटे थे। न कोई लड़ाई, न झगड़ा; न बात, न चीत; रात को औरत न-जाने कब उठी, और न-जाने कहाँ चली गई। लड़कों को छोड़ गई। बेचारा झींगुर बैठा रो रहा है। सबसे बड़ी मुशकिल तो छोटे बच्चे की है। अभी कुल छ महीने का है। कैसे जिएगा, भगवान् ही जानें।"

विमलसिंह ने गंभीर भाव से कहा—"गहने बनवाता था कि नहीं?"

मज़दूर—"रुपए-पैसे तो औरत ही के हाथ में थे। गहने बनवाती, तो उसका हाथ कौन पकड़ता ?"

दूसरे मज़दूर ने कहा—"गहनों से तो लदी हुई थी। जिधर से निकल जाती थी, छम-छम की आवाज़ से कान भर जाते थे।"

विमल—"जब गहने बनवाने पर भी निठुराई की, तो यही कहना पड़ेगा कि यह जाति ही बेवफ़ा होती है।"

इतने में एक आदमी आकर विमलसिंह से बोला—"चौधरी, अभी मुझे एक सिपाही मिला था। वह तुम्हारा नाम, गाँव और बाप का नाम पूछ रहा था। कोई बाबू सुरेशसिंह हैं ?"

विमल ने सशंक होकर कहा—"हाँ, हैं। मेरे गाँव के इलाक़े-दार और बिरादरी के भाई हैं।"

आदमी—"उन्होंने थाने से कोई नोटिस निकलवाया है कि जो विमलसिंह का पता लगावेगा, उसे १,०००) का इनाम मिलेगा।"

विमल—"तो तुमने सिपाही को सब ठीक-ठीक बता दिया ?"

आदमी—"चौधरी, मैं कोई गँवार हूँ क्या ? समझ गया, कुछ दाल में काला है; नहीं तो कोई इतने रुपए क्यों ख़र्च करता। मैंने कह दिया कि उनका नाम विमलसिंह नहीं, जसोदा पाँड़े हैं। बाप का नाम सुक्खू बताया, और घर ज़िला झाँसी में। पूछने लगा, यहाँ कितने दिन से रहता है ? मैंने कहा, कोई दस साल से। तब कुछ सोचकर चला गया। सुरेश बाबू से तुमसे कोई अदावत है क्या चौधरी ?"

विमल—"अदावत तो नहीं थी, मगर कौन जाने, उनकी नीयत बिगड़ गई हो। मुझ पर कोई अपराध लगाकर मेरी जगह-ज़मीन पर हाथ बढ़ाना चाहते हों। तुमने बड़ा अच्छा किया कि सिपाही को उड़नघाई बताई।"

आदमी—"मुझसे कहता था कि ठीक-ठीक बता दो, तो ५०)

तुम्हें भी दिला दूँ । मैंने सोचा—"आप तो १,०००) की गठरी मारेगा, और मुझे ५०) दिलाने को कहता है। फटकार बता दी।"

एक मज़दूर—"मगर जो २००) देने को कहता, तो तुम सब ठीक-ठीक नाम-ठिकाना बता देते? क्यों? धत् तेरे लालची की!"

आदमी—(लज्जित होकर) "२००) नहीं, २,०००) भी देता, तो न बताते। मुझे ऐसे विश्वासघात करनेवाला मत समझो। जब जी चाहे, परख लो।"

मज़दूरों में यों वाद-विवाद होता ही रहा, विमल आकर अपनी कोठरी में लेट गया। वह सोचने लगा—अब क्या करूँ? जब सुरेश-जैसे सज्जन की नीयत बदल गई, तो अब किसका भरोसा करूँ! नहीं, अब बिना घर गए काम न चलेगा। कुछ दिन और न गया, तो फिर कहीं का न होऊँगा। दो साल और रह जाता, तो पास में पूरे ५,०००) हो जाते। शीतला की इच्छा कुछ पूरी हो जाती। अभी तो सब मिलाकर ३,०००) ही होंगे; इतने में उसकी अभिलाषा न पूरी होगी। ख़ैर, अभी चलूँ। छमहीने में फिर लौट आऊँगा। अपनी जायदाद तो बच जायगी। नहीं, छ महीने रहने का क्या काम है? जाने-आने में एक महीना लग जायगा। घर में १५ दिन से ज़्यादा न रहूँगा। वहाँ कौन पूछता है, आऊँ या रहूँ, मरूँ या जिऊँ; वहाँ तो गहनों से प्रेम है।

इस तरह मन में निश्चय करके वह दूसरे दिन रंगून से चल पड़ा।

(३)

संसार कहता है कि गुण के सामने रूप की कोई हस्ती नहीं। हमारे नीति-शास्त्र के आचार्यों का भी यही कथन है। पर वास्तव में यह कितना भ्रम-मूलक है! कुँवर सुरेशसिंह की नववधू मंगला-कुमारी गृह-कार्य में निपुण, पति के इशारे पर प्राण देनेवाली, अत्यंत विचारशीला, मधुर-भाषिणी और धर्म-भीरु थी; पर सौंदर्य-

विहीन होने के कारण पति की आँखों में काँटे के समान खटकती थी। सुरेशसिंह बात-बात पर उस पर झुँझलाते, पर घड़ी-भर में पश्चात्ताप के वशीभूत होकर उससे क्षमा माँगते; किंतु दूसरे ही दिन फिर वही कुत्सित व्यापार शुरू हो जाता। विपत्ति यह थी कि उनके आचरण अन्य रईसों की भाँति भ्रष्ट न थे। वह दांपत्य जीवन ही में आनंद, सुख, शांति, विश्वास, प्रायः सभी ऐहिक और पारमार्थिक उद्देश्य पूरा करना चाहते थे, और दांपत्य सुख से वंचित होकर उन्हें अपना समस्त जीवन नीरस, स्वाद-हीन और कुंठित जान पड़ता था। फल यह हुआ कि मंगला को अपने ऊपर विश्वास न रहा। वह अपने मन से कोई काम करते हुए डरती कि स्वामी नाराज़ होंगे। स्वामी को खुश रखने के लिये अपनी भूलों को छिपाती, बहाने करती, झूठ बोलती। नौकरों को अपराध लगाकर आत्मरक्षा करना चाहती थी। पति को प्रसन्न रखने के लिये उसने अपने गुणों की, अपनी आत्मा की अवहेला की; पर उठने के बदले वह पति की नज़रों से गिरती ही गई। वह नित्य नए शृंगार करती; पर लक्ष्य से दूर होती जाती। पति की एक मधुर मुसकान के लिये, उनके अधरों के एक मीठे शब्द के लिये, उसका प्यासा हृदय तड़प-तड़पकर रह जाता। लावण्य-विहीन स्त्री वह भिक्षुक नहीं है, जो चंगुल-भर आटे से संतुष्ट हो जाय। वह भी पति का संपूर्ण, अखंड प्रेम चाहती है, और कदाचित् सुंदरियों से अधिक; क्योंकि वह इसके लिये असाधारण प्रयत्न और अनुष्ठान करती है। मंगला इस प्रयत्न में निष्फल होकर और भी संतप्त होती थी।

धीरे-धीरे पति पर से उसकी श्रद्धा उठने लगी। उसने तर्क किया कि ऐसे क्रूर, हृदय-शून्य, कल्पना-हीन मनुष्य से मैं भी उसी का-सा व्यवहार करूँगी। जो पुरुष केवल रूप का भक्त है, वह प्रेम-भक्ति के योग्य नहीं। इस प्रत्याघात ने समस्या और भी जटिल कर दी।

मगर मंगला को केवल अपनी रूप-हीनता ही का रोना न था, शीतला का अनुपम रूप-लालित्य भी उसकी कामनाओं का बाधक था, बल्कि यही उसकी आशा-लताओं पर पड़नेवाला तुषार था। मंगला सुंदरी न सही, पर पति पर जान देती थी। जो अपने को चाहे, उससे हम विमुख नहीं हो सकते ; प्रेम की शक्ति अपार है। पर शीतला की मूर्ति सुरेश के हृदय-द्वार पर बैठी हुई मंगला को अंदर न जाने देती थी, चाहे वह कितना ही वेष बदलकर आवे। सुरेश इस मूर्ति को हटाने की चेष्टा करते थे, इसे बलात् निकाल देना चाहते थे ; किंतु सौंदर्य का आधिपत्य धन के आधिपत्य से कम दुर्निवार नहीं होता। जिस दिन शीतला इस घर में मंगला का मुँह देखने आई थी, उसी दिन सुरेश की आँखों ने उसकी मनोहर छवि की एक झलक देख ली थी। वह एक झलक मानो एक क्षणिक क्रिया थी, जिसने एक ही धावे में समस्त हृदय-राज्य को जीत लिया—उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

सुरेश एकांत में बैठे हुए शीतला के चित्र को मंगला से मिलाते, यह निश्चय करने के लिए कि उनमें अंतर क्या है ? एक क्यों मन को खींचती है, दूसरी क्यों उसे हटाती है ? पर उनके मन का यह खिंचाव केवल एक चित्रकार या कवि का रसास्वादन-मात्र था। वह पवित्र और वासनाओं से रहित था। वह मूर्ति केवल उनके मनोरंजन की सामग्री-मात्र थी। वह अपने मन को बहुत समझाते, संकल्प करते कि अब मंगला को प्रसन्न रक्खूँगा। यदि वह सुंदरी नहीं है, तो उसका क्या दोष ? पर उनका यह सब प्रयास मंगला के सम्मुख जाते ही विफल हो जाता। वह बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से मंगला के मन के बदलते हुए भावों को देखते ; पर एक पक्षा-घात-पीड़ित मनुष्य की भाँति घी के घड़े को लुढ़कते देखकर भी रोकने का कोई उपाय न कर सकते। परिणाम क्या होगा, यह

सोचने का उन्हें साहस ही न होता। पर जब मंगला ने अंत को बात-बात में उनकी तीव्र आलोचना करना शुरू कर दिया, वह उनसे उच्छृंखलता का व्यवहार करने लगी, तब उसके प्रति उनका वह उतना सौहार्द भी विलुप्त हो गया। घर में आना-जाना ही छोड़ दिया।

एक दिन संध्या के समय बड़ी गरमी थी, पंखा झलने से आग और भी दहकती थी। कोई सैर करने बग़ीचों में भी न जाता था। पसीने की भाँति शरीर से सारी स्फूर्ति बहगई थी। जो जहाँ था, वहीं मुर्दा-सा पड़ा था। आग से सेंके हुए मृदंग की भाँति लोगों के स्वर कर्कश हो गए थे। साधारण बातचीत में भी लोग उत्तेजित हो जाते, जैसे साधारण संघर्ष से वन के वृक्ष जल उठते हैं। सुरेशसिंह कभी चार क़दम टहलते, फिर हाँफकर बैठ जाते। नौकरों पर झुँझला रहे थे कि जल्द-जल्द छिड़काव क्यों नहीं करते? सहसा उन्हें अंदर से गाने की आवाज़ सुनाई दी। चौंके, फिर क्रोध आया। मधुर गान कानों को अप्रिय जान पड़ा। यह क्या बे वक़्त की शहनाई है! यहाँ गरमी के मारे दम निकल रहा है, और इन सबको गाने की सूझी है! मंगला ने बुलाया होगा, और क्या! लोग नाहक़ कहते हैं कि स्त्रियों के जीवन का आधार प्रेम है। उनके जीवन का आधार वही भोजन, निद्रा, राग-रंग, आमोद-प्रमोद है, जो समस्त प्राणियों का है। घंटे-भर तो सुन चुका। यह गीत कभी बंद होगा या नहीं; सब व्यर्थ में गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रही है।

अंत को न रहा गया। ज़नानख़ाने में आकर बोले—"यह तुम लोगों ने क्या काँव-काँव मचा रक्खी है? यह गाने-बजाने का कौन-सा समय है? बाहर बैठना मुश्किल हो गया!"

सन्नाटा छा गया। जैसे शोर-गुल मचानेवाले बालकों में मास्टर पहुँच जाय। सभी ने सिर झुका लिए, और सिमट गईं।

मंगला तुरंत उठकर सामनेवाले कमरे में चली गई। पति को बुलाया, और आहिस्ते से बोली—"क्यों इतना बिगड़ रहे हो?"

"मैं इस वक़्त गाना नहीं सुनना चाहता।"

"तुम्हें सुनाता ही कौन है? क्या मेरे कानों पर भी तुम्हारा अधिकार है?"

"फ़ज़ूल की बमचख़—"

"तुमसे मतलब?"

"मैं अपने घर में यह कोलाहल न मचने दूँगा।"

"तो मेरा घर कहीं और है?"

सुरेशसिंह इसका उत्तर न देकर बोले—"इन सब से कह दो, फिर किसी वक़्त आवें।"

मंगला—"इसलिये कि तुम्हें इनका आना अच्छा नहीं लगता?"

"हाँ, इसीलिये!"

"तुम क्या सदा वही करते हो, जो मुझे अच्छा लगे?" तुम्हारे यहा मित्र आते हैं, हँसी-ठट्ठे की आवाज़ अंदर सुनाई देती है। मैं कभी नहीं कहती कि इन लोगों का आना बंद कर दो। तुम मेरे कामों में दस्तंदाज़ी क्यों करते हो?"

सुरेश ने तेज़ होकर कहा—"इसलिये कि मैं घर का स्वामी हूँ।"

मंगला—"तुम बाहर के हो; यहाँ मेरा अधिकार है।"

सुरेश—"क्यों व्यर्थ की बक-बक करती हो? मुझे चिढ़ाने से क्या मिलेगा?"

मंगला—ज़रा देर चुपचाप खड़ी रही। वह पति के मनोगत भावों की मीमांसा कर रही थी। फिर बोली—"अच्छी बात है। अब इस घर में मेरा कोई अधिकार नहीं, तो न रहूँगी। अब तक भ्रम में थी। आज तुमने वह भ्रम मिटा दिया। मेरा इस घर पर अधिकार कभी नहीं था। जिस स्त्री का पति के

हृदय पर अधिकार नहीं, उसका उसकी संपत्ति पर भी कोई अधिकार नहीं हो सकता।"

सुरेश ने लज्जित होकर कहा—"बात का बतंगड़ क्यों बनाती हो! मेरा यह मतलब न था। कुछ-का-कुछ समझ गईं।"

मंगला—"मन की बात आदमी के मुँह से अनायास ही निकल जाती है। फिर सावधान होकर हम अपने भावों को छिपा लेते हैं।"

सुरेश को अपनी असज्जनता पर दुःख तो हुआ, पर इस भय से कि मैं इसे जितना ही मनाऊँगा, उतना ही यह और जली-कटी सुनावेगी, उसे वहीं छोड़कर बाहर चले आए।

प्रात:काल ठंडी हवा चल रही थी। सुरेश खुमारी में पड़े हुए स्वप्न देख रहे थे कि मंगला सामने से चली जा रही है। चौंक पड़े। देखा, द्वार पर सचमुच मंगला खड़ी है। घर की नौकरानियाँ आँचल से आँखें पोंछ रही हैं। कई नौकर आस-पास खड़े हैं। सभी की आँखें सजल और मुख उदास हैं। मानो बहू बिदा हो रही है।

सुरेश समझ गए कि मंगला को कल की बात लग गई। पर उन्होंने उठकर कुछ पूछने की, मनाने की, या समझाने की चेष्टा न की। यह मेरा अपमान कर रही है; मेरा सिर नीचा कर रही है। जहाँ चाहे, जाय। मुझसे कोई मतलब नहीं। यों बिना कुछ पूछे-पाछे चले जाने का अर्थ यह है कि मैं इसका कोई नहीं। फिर मैं इसे रोकनेवाला कौन!

वह यों ही जड़वत् पड़े रहे, और मंगला चली गई। उनकी तरफ़ मुँह उठाकर भी न ताका।

(४)

मंगला पाँव-पैदल चली जा रही थी। एक बड़े ताल्लुक़ेदार की औरत के लिये यह मामूली बात न थी। हर किसी की हिम्मत न पड़ती कि उससे कुछ कहे। पुरुष उसकी राह छोड़कर किनारे

खड़े हो जाते थे। नारियाँ द्वार पर खड़ी करुण-कौतूहल से देखती थीं, और आँखों से कहती थीं—"हा निर्दयी पुरुष! इतना भी न हो सका कि डोले पर तो बैठा देता।"

इस गाँव से निकलकर मंगला उस गाँव में पहुँची, जहाँ शीतला रहती थी। शीतला सुनते ही द्वार पर आकर खड़ी हो गई, और मंगला से बोली—"बहन, ज़रा आकर दम ले लो।"

मंगला ने अंदर जाकर देखा, तो मकान जगह-जगह से गिरा हुआ था। दालान में एक वृद्धा खाट पर पड़ी थी। चारो ओर दरिद्रता के चिह्न दिखाई देते थे।

शीलता ने पूछा—"यह क्या हुआ?"

मंगला—"जो भाग्य मे लिखा था।"

शीतला—"कुँवरजी ने कुछ कहा-सुना क्या?"

मंगला—"मुँह से कुछ न कहने पर भी तो मन की बात छिपी नहीं रहती।"

शीतला—"अरे, तो क्या अब यहाँ तक नौबत आ गई!"

दुःख की अंतिम दशा संकोच-हीन होती है। मंगला ने कहा—"चाहती, तो अब भी पड़ी रहती। उसी घर में जीवन कट जाता। पर जहाँ प्रेम नहीं, पूछ नहीं, मान नहीं, वहाँ अब नहीं रह सकती।"

शीतला—"तुम्हारा मायका कहाँ है?"

मंगला—मायके कौन मुँह लेकर जाऊँगी?"

शीतला—"तब कहाँ जाओगी?"

मंगला—ईश्वर के दरबार में। पूछूँगी कि तुमने मुझे सुंदरता क्यों नहीं दी? बदसूरत क्यों बनाया? बहन, स्त्री के लिये इससे अधिक दुर्भाग्य की बात नहीं कि वह रूप-हीन हो। शायद पुरबले जनम की पिशाचिनियाँ ही बदसूरत औरतें होती हैं। रूप से प्रेम मिलता है, और प्रेम से दुर्लभ कोई वस्तु नहीं।"

यह कहकर मंगला उठ खड़ी हुई। शीतला ने उसे रोका नहीं। सोचा—इसे खिलाऊँगी क्या, आज तो चूल्हा जलने की कोई आशा नहीं।

उसके जाने के बाद वह बहुत देर तक बैठी सोचती रही—मैं कैसी अभागिन हूँ। जिस प्रेम को न पाकर यह बेचारी जीवन को त्याग रही है, उसी प्रेम को मैंने पाँव से ठुकरा दिया! इसे ज़ेवर की क्या कमी थी? क्या ये सारे जड़ाऊ ज़ेवर इसे सुखी रख सके? इसने उन्हें पाँव से ठुकरा दिया। उन्हीं आभूषणों के लिये मैंने अपना सर्वस्व खो दिया। हा! न-जाने वह (विमलसिंह) कहाँ हैं, किस दशा में हैं!

अपनी लालसा को, तृष्णा को, वह कितनी ही बार धिक्कार चुकी थी। मंगला की दशा देखकर आज उसे आभूषणों से घृणा हो गई।

विमल को घर छोड़े दो साल हो गए थे। शीतला को अब उनके बारे में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगीं। आठो पहर उसके चित्त में ग्लानि और क्षोभ की आग सुलगती।

दिहात के छोटे-मोटे ज़मींदारों का काम डाँट-डपट, छीन-झपट ही से चला करता है। विमल की खेती बेगार में होती थी। उसके जाने के बाद सारे खेत परती रह गए। कोई जोतनेवाला न मिला। इस ख़याल से साझे पर भी किसी ने न जोता कि बीच में कहीं विमलसिंह आ गए, तो साझेदार को अँगूठा दिखा देंगे। असामियों ने लगान न दिया। शीतला ने महाजन से रुपए उधार लेकर काम चलाया। दूसरे वर्ष भी यही कैफ़ियत रही। अब की महाजन ने भी रुपए न दिए। शीतला के गहनों के सिर गई। दूसरा साल समाप्त होते-होते घर की सब लेई-पूँजी निकल गई। फ़ाक़े होने लगे। बूढ़ी सास, छोटा देवर, ननँद और आप, चार प्राणियों का ख़र्च था। नात-हित भी आते ही रहते थे। उस पर यह और

मुसीबत हुई कि मायके में एक फ़ौजदारी हो गई। पिता और बड़े भाई उसमें फँस गए। दो छोटे भाई, एक बहन और माता, चार प्राणी और सिर पर आ डटे। गाड़ी पहले ही मुशकिल से चलती थी, अब ज़मीन में धँस गई।

प्रातःकाल से ही कलह आरंभ हो जाता। समधिन समधिन से, साले बहनोई से गुथ जाते। कभी तो अन्न के अभाव से भोजन ही न बनता; कभी भोजन बनने पर भी, गाली-गलौज के कारण खाने की नौबत न आती। लड़के दूसरों के खेतों में जाकर गन्ने और मटर खाते; बुढ़ियाँ दूसरों के घर जाकर अपना दुखड़ा रोतीं, और ठकुर-सोहाती कहतीं। पुरुष की अनुपस्थिति में स्त्री के मायके-वालों का प्राधान्य हो जाता है। इस संग्राम में प्रायः विजय पताका मायकेवालों के ही हाथ रहती है। किसी भाँति घर में नाज आ जाता, तो उसे पीसे कौन! शीतला की मा कहती, चार दिन के लिये आई हूँ तो क्या चक्की चलाऊँ? सास कहती, खाने की बेर तो बिल्ली की तरह लपकेंगी, पीसते क्यों जान निकलती है? विवश होकर शीतला को अकेले पीसना पड़ता। भोजन के समय वह महाभारत मचता कि पड़ोसवाले तंग आ जाते। शीतला कभी मा के पैरों पड़ती, कभी सास के चरण पकड़ती; लेकिन दोनो ही उसे झिड़क देतीं। मा कहती, तूने यहाँ बुलाकर हमारा पानी उतार लिया। सास कहती, मेरी छाती पर सौत लाकर बैठा दी, अब बातें बनाती है? इस घोर विवाद में शीतला अपना विरह-शोक भूल गई। सारी अमंगल-शंकाएँ इस विरोधाग्नि में शांत हो गईं। बस, अब यही चिंता थी कि इस दशा से छुटकारा कैसे हो? मा और सास, दोनो ही का यमराज के सिवा और कहीं ठिकाना न था; पर यमराज उनका स्वागत करने के लिये बहुत उत्सुक नहीं जान पड़ते थे। सैकड़ों उपाय सोचती; पर उस पथिका की भाँति, जो

दिन-भर चलकर भी अपने द्वार ही पर खड़ा हो, उसकी सोचने की शक्ति निश्चल हो गई थी। चारो तरफ़ निगाहें दौड़ाती कि कहीं कोई शरण का स्थान है? पर कहीं निगाह न जमती।

एक दिन वह इसी नैराश्य की अवस्था में द्वार पर खड़ी थी। मुसीबत में, चित्त की उद्विग्नता में, इंतज़ार में, द्वार से प्रेम-सा हो जाता है। सहसा उसने बाबू सुरेशसिंह को सामने से घोड़े पर जाते देखा। उसकी आँखें उसकी ओर फिरीं। आँखें मिल गईं। वह झिझककर पीछे हट गई। किवाड़े बंद कर लिए। कुँवर साहब आगे बढ़ गए। शीतला को खेद हुआ कि उन्होंने मुझे देख लिया। मेरे सिर पर सारी फटी हुई थी, चारो तरफ़ उसमें पेबंद लगे हुए थे! वह अपने मन में न- जाने क्या कहते होंगे?

कुँवर साहब को गाँववालों से विमलसिंह के परिवार के कष्टों की ख़बर मिली थी। वह गुप्त रूप से उनकी कुछ सहायता करना चाहते थे। पर शीतला को देखते ही संकोच ने उन्हें ऐसा दबाया कि द्वार पर एक क्षण भी न रुक सके। मंगला के गृह-त्याग के तीन महीने बाद आज वह पहली बार घर से निकले थे। मारे शर्म के बाहर बैठना छोड़ दिया था।

इसमें संदेह नहीं कि कुँवर साहब मन में शीतला के रूप-रस का आस्वादन करते थे। मंगला के जाने के बाद उनके हृदय में एक विचित्र दुष्कामना जग उठी। क्या किसी उपाय से यह सुंदरी मेरी नहीं हो सकती? विमल का मुद्दत से पता नहीं। बहुत संभव है कि वह अब संसार में न हो। किंतु वह इस दुष्कल्पना को विचार से दबाते रहते थे। शीतला की विपत्ति की कथा सुनकर भी वह उसकी सहायता करते डरते थे। कौन जाने, वासना यही वेष रखकर मेरे विचार और विवेक पर कुठाराघात न करना चाहती हो। अंत को लालसा की कपट-लीला उन्हें भुलावा दे ही गई।

इसका दुःख है। ख़ैर, अब ईश्वर ने चाहा, तो तुम्हें कष्ट न होगा।" इस पत्र के साथ उन्होंने नाज और रुपए भेजे।

शीतला ने उत्तर दिया—"भैया, क्षमा करो। जब तक जीऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी। तुमने मेरी डूबती नाव पार लगा दी।"

(६)

कई महीने बीत गए। संध्या का समय था। शीतला अपनी मैना को चारा चुगा रही थी। उसे सुरेश नैपाल से उसी के वास्ते लाए थे। इतने में सुरेश आकर आँगन में बैठ गए।

शीतला ने पूछा—"कहाँ से आते हो, भैया?"

सुरेश—"गया था ज़रा थाने। कुछ पता नहीं चला। रंगून में पहले कुछ पता मिला था। बाद को मालूम हुआ कि वह कोई और आदमी है। क्या करूँ? इनाम और बढ़ा दूँ?"

शीतला—"तुम्हारे पास रुपए बढ़े हैं, फूँको। उनकी इच्छा होगी, तो आप ही आवेंगे।"

सुरेश—"एक बात पूछूँ, बताओगी? किस बात पर तुमसे रूठे थे?"

शीतला—"कुछ नहीं, मैंने यही कहा कि मुझे गहने बनवा दो। कहने लगे, मेरे पास है क्या। मैंने कहा (लजाकर), तो ब्याह क्यों किया? बस, बातों-ही-बातों में तकरार मान गए।"

इतने में शीतला की सास आ गई। सुरेश ने शीतला की मा और भाइयों को उनके घर पहुँचा दिया था, इसलिये यहाँ अब शांति थी। सास ने बहू की बात सुन ली थी। कर्कश स्वर से बोली—"बेटा, तुमसे क्या परदा है। यह महारानी देखने ही को गुलाब का फूल हैं, अंदर सब काँटे हैं। यह अपने बनाव-सिंगार के आगे विमल की बात ही न पूछती थीं। बेचारा इस पर जान देता था; पर इसका मुँह ही न सीधा होता था। प्रेम तो इसे

छू नहीं गया। अंत को उसे देश से निकालकर इसने दम लिया।"

शीतला ने रुष्ट होकर कहा—"क्या वही अनोखे धन कमाने घर से निकले हैं? देश-विदेश जाना मरदों का काम ही है।"

सुरेश—"योरप में तो धन-भोग के सिवा स्त्री-पुरुष में कोई संबंध ही नहीं होता। बहन ने योरप में जन्म लिया होता, तो हीरे-जवाहिर से जगमगाती होतीं। शीतला, अब तुम ईश्वर से यही कहना कि सुंदरता देते हो, तो योरप में जन्म दो।"

शीतला ने व्यथित होकर कहा—"जिनके भाग्य में लिखा है, वे यहीं सोने से लदी हुई हैं। मेरी भाँति सभी के करम थोड़े ही फूट गए हैं।"

सुरेशसिंह को ऐसा जान पड़ा कि शीतला की मुख-कांति मलिन हो गई है। पति-वियोग में भी गहनों के लिये इतनी लालायित है! बोले—"अच्छा, मैं तुम्हें गहने बनवा दूँगा।"

यह वाक्य कुछ अपमान-सूचक स्वर में कहा गया था; पर शीतला की आँखें आनंद से सजल हो आईं, कंठ गद्‌गद् हो गया। उसके हृदय-नेत्रों के सामने मंगला के रत्न-जटित आभूषणों का चित्र खिंच गया। उसने कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से सुरेश को देखा। मुँह से कुछ न बोली; पर उसका प्रत्येक अंग कह रहा था—"मैं तुम्हारी हूँ।"

(६)

कोयल आम की डालियों पर बैठकर, मछली शीतल, निर्मल जल में क्रीड़ा कर और मृग-शावक विस्तृत हरियालियों में छलाँगें भरकर इतने प्रसन्न नहीं होते, जितना मंगला के आभूषणों को पहनकर शीतला प्रसन्न हो रही है। उसके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते। वह आकाश में विचरती हुई जान पड़ती है। वह दिन-भर आइने के सामने खड़ी रहती है; कभी केशों को सँवारती है, कभी

सुरमा लगाती है। कुहरा फट गया है; और निर्मल, स्वच्छ चाँदनी निकल आई है। वह घर का एक तिनका भी नहीं उठाती। उसके स्वभाव में एक विचित्र गर्व का संचार हो गया है।

लेकिन शृंगार क्या है? सोई हुई काम-वासना को जगाने का घोरनाद—उद्दीपना का मंत्र। शीतला जब नख-शिख से सजकर बैठती है, तो उसे प्रबल इच्छा होती है कि मुझे कोई देखे। वह द्वार पर आकर खड़ी हो जाती है। गाँव की स्त्रियों की प्रशंसा से उसे संतोष नहीं होता। गाँव के पुरुषों को वह शृंगार-रस-विहीन समझती है। इसलिये सुरेशसिंह को बुलाती है। पहले वह दिन में एक बार आ जाते थे; अब शीतला के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आते।

पहर रात गई थी। घरों के दीपक बुझ चुके थे। शीतला के घर में दीपक जल रहा था। उसने कुँवर साहब के बग़ीचे से बेले के फूल मँगवाए थे, और बैठी हार गूँथ रही थी—अपने लिये नहीं, सुरेश के लिये। प्रेम के सिवा एहसान का बदला देने के लिये उसके पास और था ही क्या?

एकाएक कुत्तों के भूँकने की आवाज़ सुनाई दी, और दम-भर में विमलसिंह ने मकान के अंदर क़दम रक्खा। उनके एक हाथ में संदूक़ थी, दूसरे हाथ में एक गठरी। शरीर दुर्बल, कपड़े मैले, दाढ़ी के बाल बढ़े हुए, मुख पीला; जैसे कोई क़ैदी जेल से निकलकर आया हो। दीपक का प्रकाश देखकर वह शीतला के कमरे की तरफ़ चले। मैना पिंजरे में तड़फड़ाने लगी। शीतला ने चौंककर सिर उठाया। घबराकर बोली—"कौन?" फिर पहचान गई। तुरंत फूलों को एक कपड़े से छिपा दिया। उठ खड़ी हुई, और सिर झुकाकर पूछा—"इतनी जल्दी सुध ली!"

विमल ने कुछ जवाब न दिया। विस्मित हो-होकर कभी शीतला

को देखता और कभी घर को। मानो किसी नए संसार में पहुँच गया है। यह वह अधखिला फूल न था, जिसकी पंखड़ियाँ अनुकूल जल-वायु न पाकर सिमट गई थीं। यह पूर्ण विकसित कुसुम था—ओस के जल-कणों से जगमगाता और वायु के झोंकों से लहराता हुआ। विमल उसकी सुंदरता पर पहले भी मुग्ध था। पर यह ज्योति वह अग्नि-ज्वाला थी, जिससे हृदय में ताप और आँखों में जलन होती थी। ये आभूषण, ये वस्त्र, यह सजावट! उसके सिर में चक्कर-सा आ गया। ज़मीन पर बैठ गया। इस सूर्यमुखी के सामने बैठते हुए उसे लज्जा आती थी। शीतला अभी तक स्तंभित खड़ी थी। वह पानी लाने नहीं दौड़ी, उसने पति के चरण नहीं धोए, उसके पंखा तक नहीं झला। वह हतबुद्धि-सी हो गई थी। उसने कल्पनाओं की कैसी सुरम्य वाटिका लगाई थी! उस पर तुषार पड़ गया! वास्तव में इस मलिन-वदन, अर्द्ध-नग्न पुरुष से उसे घृणा हो रही थी। यह घर का ज़मींदार विमल न था। वह मज़दूर हो गया था। मोटा काम मुखाकृति पर असर डाले बिना नहीं रहता। मज़दूर सुंदर वस्त्रों में भी मज़दूर ही रहता है।

सहसा विमल की मा चौंकी। शीतला के कमरे में आई, तो विमल को देखते ही मातृस्नेह से विह्वल होकर उसे छाती से लगा लिया। विमल ने उसके चरणों पर सिर रक्खा। उसकी आँखों से आँसुओं की गरम-गरम बूँदें निकल रही थीं। मा पुलकित हो रही थी। मुख से बात न निकलती थी।

एक क्षण में विमल ने कहा—"अम्मा!"

कंठ-ध्वनि ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

मा ने प्रश्न समझकर कहा—"नहीं बेटा, यह बात नहीं है।"

विमल—"यह देखता क्या हूँ?"

मा—"स्वभाव ही ऐसा है, तो कोई क्या करे ?"

विमल—"सुरेश ने मेरा हुलिया क्यों लिखाया था ?"

मा—"तुम्हारी खोज लेने के लिये। उन्होंने दया न की होती, तो आज घर में किसी को जीता न पाते।"

विमल—"बहुत अच्छा होता।"

शीतला ने ताने से कहा—"अपनी ओर से तो तुमने सबको मार ही डाला था। फूलों की सेज बिछा गए थे न ?"

विमल—"अब तो फूलों की सेज ही बिछी हुई देखता हूँ।"

शीतला—"तुम किसी के भाग्य के विधाता हो ?"

विमलसिंह उठकर क्रोध से काँपता हुआ बोला—"अम्मा, मुझे यहाँ से ले चलो। मैं इस पिशाचिनी का मुँह नहीं देखना चाहता। मेरी आँखों में खून उतरता चला आता है। मैंने इस कुल-कलंकिनी के लिये तीन साल तक जो कठिन तपस्या की है, उससे ईश्वर मिल जाता; पर इसे न पा सका !"

यह कहकर वह कमरे से निकल आया, और माँ के कमरे में लेट रहा। मा ने तुरंत उसका मुँह और हाथ-पैर धुलाए। वह चूल्हा जलाकर पूरियाँ पकाने लगी। साथ-साथ घर की विपत्ति-कथा भी कहती जाती थी। विमल के हृदय में सुरेश के प्रति जो विरोधाग्नि प्रज्वलित हो रही थी, वह शांत हो गई; लेकिन हृदय-दाह ने रक्त-दाह का रूप धारण किया। ज़ोर का बुख़ार चढ़ आया। लंबी यात्रा की थकन और कष्ट तो था ही, बरसों के कठिन श्रम और तप के बाद यह मानसिक संताप और भी दुस्सह हो गया।

सारी रात वह अचेत पड़ा रहा। मा बैठी पंखा झलती और रोती रही। दूसरे दिन भी वह बेहोश पड़ा रहा। शीतला उसके पास एक क्षण के लिये भी न आई। "इन्होंने मुझे कौन सोने के

और खिला दिए हैं, जो इनकी धौंस सहूँ। यहाँ तो 'जैसे कंता घर रहे, वैसे रहे विदेस।' किसी की फूटी कौड़ी नहीं जानती। बहुत ताव दिखाकर तो गए थे। क्या लाद लाए?"

संध्या के समय सुरेश को ख़बर मिली। तुरंत दौड़े हुए आए। आज दो महीने बाद उन्होंने इस घर में क़दम रक्खा। विमल ने आँखें खोलीं, पहचान गया। आँखों से आँसू बहने लगे। सुरेश के मुखारविंद पर दया की ज्योति झलक रही थी। विमल ने उनके बारे में जो अनुचित संदेह किया था, उसके लिये वह अपने को धिक्कार रहा था।

शीतला ने ज्यों ही सुना कि सुरेशसिंह आए हैं, तुरंत शीशे के सामने गई, केश छिटका लिए, और विषाद की मूर्ति बनी हुई विमल के कमरे में आई। कहाँ तो विमल की आँखें बंद थीं, मूर्छित-सा पड़ा था, कहाँ शीतला के आते ही आँखें खुल गईं। अग्निमय नेत्रों से उसकी ओर देखकर बोला—"अभी आई है? आज के तीसरे दिन आना। कुँअर साहब से उस दिन फिर भेंट हो जायगी।"

शीतला उलटे-पाँव चली गई। सुरेश पर घड़ों पानी पड़ गया। मन में सोचा—कितना रूप-लावण्य है; पर कितना विषाक्त! हृदय की जगह केवल शृंगार-लालसा!

आतंक बढ़ता ही गया। सुरेश ने डॉक्टर बुलवाए। पर मृत्यु-देव ने किसी की न मानी। उनका हृदय पाषाण है। किसी भाँति नहीं पसीजता। कोई अपना हृदय निकालकर रख दे, आँसुओं की नदी बहा दे; पर उन्हें दया नहीं आती। बसे हुए घर को उजाड़ना, लहराती हुई खेती को सुखाना उनका काम है। और, उनकी निर्दयता कितनी विनोदमय है? वह नित्य नए रूप बदलते रहते हैं। कभी दामिनी बन जाते हैं, तो कभी पुष्प-माला। कभी सिंह बन

जाते हैं, तो कभी सियार। कभी अग्नि के रूप में दिखाई देते हैं, तो कभी जल के रूप में।

तीसरे दिन, पिछली रात को, विमल की मानसिक पीड़ा और हृदय-ताप का अंत हो गया। चोर दिन को कभी चोरी नहीं करता। यम के दूत प्रायः रात को ही सबकी नज़रें बचाकर आते हैं, और प्राण-रत्न को चुरा ले जाते हैं। आकाश के फूल मुरझाए हुए थे। वृक्ष-समूह स्थिर थे; पर शोक में मग्न, सिर झुकाए हुए। रात शोक का वाह्य रूप है। रात मृत्यु का क्रीड़ा-क्षेत्र है। उसी समय विमल के घर से आर्त-नाद सुनाई दिया—वह नाद, जिसे सुनने के लिये मृत्युदेव विकल रहते हैं।

शीतला चौंक पड़ी, और घबराई हुई मरण-शय्या की ओर चली। उसने मृत देह पर निगाह डाली, और भयभीत होकर एक पग पीछे हट गई। उसे जान पड़ा, विमलसिंह उसकी ओर अत्यंत तीव्र दृष्टि से देख रहे हैं। बुझे हुए दीपक में उसे भयंकर ज्योति दिखाई पड़ी। वह मारे भय के वहाँ ठहर न सकी। द्वार से निकल ही रही थी कि सुरेशसिंह से भेंट हो गई। कातर स्वर में बोली—"मुझे यहाँ डर लगता है।" उसने चाहा कि रोती हुई इनके पैरों पर गिर पड़ूँ; पर वह अलग हट गए।

(७)

जब किसी पथिक को चलते-चलते ज्ञात होता है कि मैं रास्ता भूल गया हूँ, तो वह सीधे रास्ते पर आने के लिये बड़े वेग से चलता है। झुँझलाता है कि मैं इतना असावधान क्यों हो गया? सुरेश भी अब शांति-मार्ग पर आने के लिये विकल हो गए। मंगला की स्नेहमयी सेवाएँ याद आने लगीं। हृदय में वास्तविक सौंदर्योपासना का भाव उदय हुआ। उसमें कितना प्रेम, कितना त्याग था, कितनी क्षमा थी! उसकी अतुल पति-भक्ति को याद करके कभी-

कभी वह तड़प जाते। आह! मैंने घोर अत्याचार किया। ऐसे उज्ज्वल रत्न का आदर न किया। मैं यहीं जड़वत् पड़ा रहा, और मेरे सामने ही लक्ष्मी घर से निकल गई! मंगला ने चलते-चलते शीतला से जो बातें कही थीं, वे उन्हें मालूम थीं। पर उन बातों पर विश्वास न होता था। मंगला शांत-प्रकृति की थी; वह इतनी उद्दंडता नहीं कर सकती। उसमें क्षमा थी; वह इतना विद्वेष नहीं कर सकती। उसका मन कहता था कि जीती है, और कुशल से है। उसके मायकेवालों को कई पत्र लिखे। पर वहाँ व्यंग्य और कटु वाक्यों के सिवा और क्या रक्खा था? अंत को उन्होंने लिखा—"अब उस रत्न की खोज में मैं स्वयं जाता हूँ। या तो लेकर ही आऊँगा, या कहीं मुँह में कालिख लगाकर डूब मरूँगा।"

इस पत्र का उत्तर आया—"अच्छी बात है, जाइए, पर यहाँ से होते हुए जाइएगा। यहाँ से भी कोई आपके साथ चला जायगा।"

सुरेशसिंह को इन शब्दों में आशा की झलक दिखाई दी। उसी दिन प्रस्थान कर दिया। किसी को साथ नहीं लिया।

ससुराल में किसी ने उनका प्रेममय स्वागत नहीं किया। सभी के मुँह फूले हुए थे। ससुरजी ने तो उन्हें पति-धर्म पर एक लंबा उपदेश दिया।

रात को जब वह भोजन करके लेटे, तो छोटी साली आकर बैठ गई, और मुस्किराकर बोली—"जीजाजी, कोई सुंदरी अपने रूप-हीन पुरुष को छोड़ दे, उसका अपमान करे, तो आप उसे क्या कहेंगे?"

सुरेश—(गंभीर स्वर से) "कुटिला!"

साली—"और ऐसे पुरुष को, जो अपनी रूप-हीन स्त्री को त्याग दे?"

सुरेश—"पशु !"

साली—"और जो पुरुष विद्वान् हो ?"

सुरेश—"पिशाच !"

साली—(हँसकर) "तो मैं भागती हूँ । मुझे आपसे डर लगता है ।"

सुरेश—"पिशाचों का प्रायश्चित्त भी तो स्वीकार हो जाता है ।"

साली—"शर्त यह है कि प्रायश्चित्त सच्चा हो ।"

सुरेश—"यह तो वह अंतर्यामी ही जान सकते हैं ।"

साली—"सच्चा होगा, तो उसका फल भी अवश्य मिलेगा । मगर दीदी को लेकर इधर ही से लौटिएगा ।"

सुरेश की आशा-नौका डगमगाई । गिड़गिड़ाकर बोले—"प्रभा, ईश्वर के लिये मुझ पर दया करो, मैं बहुत दुखी हूँ । साल-भर से ऐसा कोई दिन नहीं गया कि मैं रोकर न सोया होऊँ ।"

प्रभा ने उठकर कहा—"अपने किए का क्या इलाज ? जाती हूँ, आराम कीजिए ।"

एक क्षण में मंगला की माता आकर बैठ गईं, और बोलीं—"बेटा, तुमने तो बहुत पढ़ा-लिखा है, देस-बिदेस घूम आए हो, सुंदर बनने की कोई दवा कहीं नहीं देखी ?"

सुरेश ने विनय-पूर्वक कहा—"माताजी, अब ईश्वर के लिये और लज्जित न कीजिए ।"

माता—"तुमने तो मेरी बेटी के प्राण ले लिए ! मैं क्या तुम्हें लज्जित करने से भी गई ! जी में तो था कि ऐसी-ऐसी सुनाऊँगी कि तुम भी याद करोगे ; पर मेरे मेहमान हो, क्या जलाऊँ ? आराम करो ।"

सुरेश आशा और भय की दशा में पड़े करवटें बदल रहे थे कि एकाएक द्वार पर किसी ने धीरे से कहा—"जाती क्यों नहीं, जागते तो हैं !"

किसी ने जवाब दिया—"लाज आती है।"

सुरेश ने आवाज़ पहचानी। प्यासे को पानी मिल गया। एक क्षण में मंगला उनके सम्मुख आई, और सिर झुकाकर खड़ी हो गई। सुरेश को उसके मुख पर एक अनूठी छवि दिखाई दी, जैसे कोई रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर चुका हो।

रूप वही था, पर आँखें और थीं।

राज्य-भक्त

(१)

संध्या का समय था। लखनऊ के बादशाह नासिरुद्दीन अपने मुसाहबों और दरबारियों के साथ बाग़ की सैर कर रहे थे। उनके सिर पर रत्न-जटित मुकुट की जगह अँगरेज़ी टोपी थी। वस्त्र भी अँगरेज़ी ही थे। मुसाहबों में पाँच अँगरेज़ थे। उनमें से एक के कंधे पर सिर रखकर बादशाह चल रहे थे। तीन-चार हिंदुस्थानी भी थे। उनमें एक राजा बख़्तावरसिंह थे। वह बादशाही सेना के अध्यक्ष थे। उन्हें सब लोग 'जेनरल' कहा करते थे। वह अधेड़ आदमी थे। शरीर ख़ूब गठा हुआ था। लखनवी पहनाव उन पर बहुत सजता था। मुख से विचारशीलता झलक रही थी। दूसरे महाशय का नाम रोशनुद्दौला था। यह राज्य के प्रधान-मंत्री थे। बड़ी-बड़ी मूछें और नाटा डील था, जिसे ऊँचा करने के लिये वह तनकर चलते थे। नेत्रों से गर्व टपक रहा था। शेष लोगों में एक कोतवाल था, और दो बादशाह के रक्षक। यद्यपि अभी १९वीं शताब्दी का आरंभ ही था, पर बादशाह ने अँगरेज़ी रहन-सहन अख़्तियार कर ली थी। भोजन भी प्रायः अँगरेज़ी ही करते थे। अँगरेज़ों पर उनका असीम विश्वास था। वह सदैव उनका पक्ष लिया करते। मजाल न थी कि कोई बड़े-से-बड़ा राजा या राज-कर्मचारी किसी अंगरेज़ से बराबरी करने का साहस कर सके।

अगर किसी में यह हिम्मत थी, तो वह राजा बख़्तावरसिंह थे। उनसे कंपनी का बढ़ता हुआ अधिकार न देखा जाता था; कंपनी की उस सेना की संख्या, जिसे उसने अवध के राज्य की रक्षा के

जिसे लखनऊ में नियुक्त की थी, दिन-दिन बढ़ती जाती थी। उसी प्रमाण से सेना का व्यय भी बढ़ रहा था। राज-दरबार उसे चुका न सकने के कारण कंपनी का ऋणी होता जाता था। बादशाही सेना की दशा हीन-से-हीनतर होती जाती थी। उसमें न संगठन था, न बल। बरसों तक सिपाहियों का वेतन न मिलता। शस्त्र सभी पुराने ढंग के, वरदी फटी हुई, क़वायद का नाम नहीं। कोई उनका पूछनेवाला न था। अगर राजा बख़्तावरसिंह वेतन-वृद्धि या नए शस्त्रों के संबंध में कोई प्रयत्न करते, तो कंपनी का रेजीडेंट उसका घोर विरोध और राज्य पर विद्रोहात्मक शक्ति-संचार का दोषारोप करता। उधर से डाट पड़ती, तो बादशाह अपना ग़ुस्सा राजा साहब पर उतारते। बादशाह के सभी अँगरेज़-मुसाहब राजा साहब से शंकित रहते, और उनकी जड़ खोदने का प्रयास करते थे। पर वह राज्य का सेवक एक ओर से अवहेलना और दूसरी ओर से घोर विरोध सहते हुए अपने कर्तव्य का पालन करता जाता था। मज़ा यह कि सेना भी उनसे संतुष्ट न थी। सेना में अधिकांश लखनऊ के शोहदे और गुंडे भरे हुए थे। राजा साहब जब उन्हें हटाकर अच्छे-अच्छे जवान भरती करने की चेष्टा करते, तो सारी सेना में हाहाकार मच जाता। लोगों को शंका होती कि यह राजपूतों की सेना बनाकर कहीं राज्य ही पर तो हाथ नहीं बढ़ाना चाहते? इसलिये मुसलमान भी उनसे बदगुमान रहते थे। राजा साहब के मन में बार-बार प्रेरणा होती कि इस पद को त्याग कर चले जायँ, पर यह भय उन्हें रोकता था कि मेरे हटते ही अँगरेज़ों की बन आवेगी, और बादशाह उनके हाथों में कठपुतली बन जायँगे; रही-सही सेना के साथ अवध-राज्य का अस्तित्व भी मिट जायगा। अतएव, इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी, चारो ओर वैर-विरोध से घिरे होने पर भी, वह अपने पद से हटने का निश्चय न कर

सकते थे। सबसे कठिन समस्या यह थी कि रोशनुद्दौला भी राजा साहब से ख़ार खाता था। उसे सदैव शंका रहती थी कि यह मराठों से मैत्री करके अवध-राज्य को मिटाना चाहते हैं। इसलिये वह भी राजा साहब के प्रत्येक कार्य में बाधा डालता रहता। उसे अब भी आशा थी कि अवध का मुसलमानी राज्य अगर जीवित रह सकता है, तो अँगरेज़ों के संरक्षण में, अन्यथा वह अवश्य हिंदुओं की बढ़ती हुई शक्ति का ग्रास बन जायगा।

वास्तव में बख़्तावरसिंह की दशा अत्यंत करुण थी। वह अपनी चतुराई से जिह्वा की भाँति दाँतों के बीच में पड़े हुए अपना काम किए जाते थे। यों तो वह स्वभाव से अक्खड़ थे, पर अपना काम निकालने के लिये मधुरता और मृदुलता, शील और विनय का आवाहन भी करते रहते थे। इससे उनके व्यवहार में कृत्रिमता आ जाती, और वह शत्रुओं को उनकी ओर से और भी सशंक बना देती थी।

बादशाह ने एक अँगरेज़-मुसाहब से पूछा—"तुमको मालूम है, मैं तुम्हारी कितनी ख़ातिर करता हूँ? मेरी सल्तनत में किसी की मजाल नहीं कि वह किसी अँगरेज़ को कड़ी निगाह से देख सके।"

अँगरेज़-मुसाहब ने सिर झुकाकर जवाब दिया—"हम हुज़ूर की इस मेहरबानी को कभी नहीं भूल सकते।"

बादशाह—"इमामहुसेन की क़सम, अगर यहाँ कोई आदमी तुम्हें तक़लीफ़ दे, तो मैं उसे फ़ौरन ज़िंदा दीवार में चुनवा दूँ।"

बादशाह की आदत थी कि वह बहुधा अपनी अँगरेज़ी टोपी हाथ में लेकर उसे उँगली पर नचाने लगते थे। रोज़ नचाते-नचाते टोपी में उँगली का घर हो गया था। इस समय जो उन्होंने टोपी उठाकर उँगली पर रक्खी, तो टोपी में छेद हो गया। बादशाह का ध्यान अँगरेज़ों की तरफ़ था। बख़्तावरसिंह बादशाह के मुँह से ऐसी बातें सुनकर कबाब हुए जाते थे। उक्त कथन में कितनी

ख़ुशामद, कितनी नीचता और अवध की प्रजा तथा राजों का कितना अपमान था! और लोग तो टोपी का छिद्र देखकर हँसने लगे, पर राजा बख़्तावरसिंह के मुँह से अनायास निकल गया—"हुज़ूर, ताज में सूराख़ हो गया!"

राजा साहब के शत्रुओं ने तुरंत कानों पर उँगलियाँ रख लीं। बादशाह को भी ऐसा मालूम हुआ कि राजा ने मुझ पर व्यंग्य किया। उनके तेवर बदल गए। अँगरेज़ों और अन्य सभासदों ने इस प्रकार काना-फूसी शुरू की, जैसे कोई महान् अनर्थ हो गया। राजा साहब के मुँह से अनर्गल शब्द अवश्य निकले थे। इसमें कोई संदेह न था। संभव है, उन्होंने जान-बूझकर व्यंग्य न किया हो, उनके दुखी हृदय ने साधारण चेतावनी को यह तीव्र रूप दे दिया हो; पर बात बिगड़ ज़रूर गई थी। अब उनके शत्रु उन्हें कुचलने के ऐसे सुंदर अवसर को हाथ से क्यों जाने देते?

राजा साहब ने सभा का यह रंग देखा, तो ख़ून सर्द हो गया। समझ गए, आज शत्रुओं के पंजे में फँस गया, और ऐसा बुरा फँसा कि भगवान् ही निकालें, तो निकल सकता हूँ।

बादशाह ने कोतवाल से लाल आँखें करके कहा—"इस नमक-हराम को क़ैद कर लो, और इसी वक़्त इसका सिर उड़ा दो। इसे मालूम हो जाय कि बादशाहों से बेअदबी करने का क्या नतीजा होता है।"

कोतवाल को सहसा 'जेनरल' पर हाथ बढ़ाने की हिम्मत न पड़ी। रोशनुद्दौला ने उससे इशारे से कहा—"खड़े सोचते क्या हो, पकड़ लो, नहीं तो तुम भी इसी आग में जल जाओगे।"

झट कोतवाल ने आगे बढ़कर बख़्तावरसिंह को गिरफ़्तार कर लिया। एक क्षण में मुश्कें कस दी गईं। लोग उन्हें चारो ओर से घेरकर क़त्ल करने ले चले।

बादशाह ने मुसाहबों से कहा—"मैं भी वहीं चलता हूँ। ज़रा देखूँगा कि नमकहरामों की लाश क्योंकर तड़पती है।"

कितनी घोर पशुता थी! यही प्राणी ज़रा देर पहले बादशाह का विश्वास-पात्र था!

एकाएक बादशाह ने कहा—"पहले इस नमकहराम की ख़िलअत उतार लो। मैं नहीं चाहता कि मेरी ख़िलअत की बेइज़्ज़ती हो।"

किसकी मजाल थी, जो ज़रा भी ज़बान हिला सकता। सिपाहियों ने राजा साहब के वस्त्र उतारने शुरू किए। दुर्भाग्य-वश उनकी एक जेब से पिस्तौल निकल आई। उसकी दोनो नालियाँ भरी हुई थीं। पिस्तौल देखते ही बादशाह की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। बोले—"क़सम है हज़रत इमामहुसेन की, अब इसकी जाँबख़्शी नहीं करूँगा। मेरे साथ भरी हुई पिस्तौल की क्या ज़रूरत! ज़रूर इसकी नीयत में फ़ितूर रहता था। अब मैं इसे कुत्तों से नुचवाऊँगा। (मुसाहबों की तरफ़ देखकर) देखी तुम लोगों ने इसकी नीयत! मैं अपनी आस्तीन में साँप पाले हुए था। आप लोगों के ख़याल में इसके पास भरी हुई पिस्तौल का निकलना क्या माने रखता है?"

अँगरेज़ों को केवल राजा साहब को नीचा दिखाना मंज़ूर था। वे उन्हें अपना मित्र बनाकर जितना काम निकाल सकते थे, उतना उनके मारे जाने से नहीं। इसी से एक अँगरेज़-मुसाहब ने कहा—"मुझे तो इसमें कोई ग़ैरमुनासिब बात नहीं मालूम होती। जेनरल आपका बाडी-गार्ड (रक्षक) है। उसे हमेशा हथियार-बंद रहना चाहिए। ख़ासकर जब आपकी ख़िदमत में हो। न-मालूम, किस वक़्त इसकी ज़रूरत आ पड़े।"

दूसरे अँगरेज़-मुसाहबों ने भी इस विचार की पुष्टि की। बाद-

शाह के क्रोध की ज्वाला कुछ शांत हुई। अगर ये ही बातें किसी हिंदुस्थानी मुसाहब की ज़बान से निकली होतीं, तो उसकी जान की ख़ैरित न थी। कदाचित् अँगरेज़ों को अपनी न्याय-परता का नमूना दिखाने ही के लिये उन्होंने यह प्रश्न किया था। बोले—"क़सम हज़रत इमाम की, तुम सब-के-सब शेर के मुँह से उसका शिकार छीनना चाहते हो! पर मैं एक न मानूँगा, बुलाओ कप्तान साहब को। मैं उनसे यही सवाल करता हूँ। अगर उन्होंने भी तुम लोगों के ख़याल की ताईद की, तो इसकी जान न लूँगा। और, अगर उनकी राय इसके ख़िलाफ़ हुई, तो इस मक्कार को इसी व़क्त जहन्नुम भेज दूँगा। मगर ख़बरदार, कोई उनकी तरफ़ किसी तरह का इशारा न करे; वरना मैं ज़रा भी रू-रियायत न करूँगा। सब-के-सब सिर झुकाए बैठे रहें।"

कप्तान साहब थे तो राजा साहब के आडरदे, पर इन दिनों बादशाह की उन पर विशेष कृपा थी। वह उन सच्चे राज्य-भक्तों में से थे, जो अपने को राजा का नहीं, राज्य का सेवक समझते हैं। वह दरबार से अलग रहते थे। बादशाह उनके कामों से बहुत संतुष्ट थे। एक आदमी तुरंत कप्तान साहब को बुला लाया। राजा साहब की जान उनकी मुट्ठी में थी। रोशनुद्दौला को छोड़कर शायद एक व्यक्ति भी ऐसा न था, जिसका हृदय आशा और निराशा से धड़क न रहा हो। सब मन में भगवान् से यही प्रार्थना कर रहे थे कि कप्तान साहब किसी तरह से इस समस्या को समझ जायँ। कप्तान साहब आए; उड़ती हुई दृष्टि से सभा की ओर देखा। सभी की आँखें नीचे झुकी हुई थीं। वह कुछ अनिश्चित भाव से सिर झुकाकर खड़े हो गए।

बादशाह ने पूछा—"मेरे मुसाहबों को अपनी जेब में भरी हुई पिस्तौल रखना मुनासिब है, या नहीं?"

दरबारियों की नीरवता, उनके आशंकित चेहरे और उनकी चिंता-युक्त अधीरता देखकर कप्तान साहब को वर्तमान समस्या की कुछ टोह मिल गई। वह निर्भीक भाव से बोले—"हुज़ूर, मेरे ख़याल में तो यह उनका फ़र्ज़ है। बादशाह के दोस्त-दुश्मन सभी होते हैं; अगर मुसाहब लोग उनकी रक्षा का भार न लेंगे, तो कौन लेगा? उन्हें सिर्फ़ पिस्तौल ही नहीं, और भी छिपे हुए हथियारों से लैस रहना चाहिए। न-जाने कब हथियारों की ज़रूरत आ पड़े, तब वे ऐन वक्त पर कहाँ दौड़ते फिरेंगे।"

राजा साहब के जीवन के दिन बाक़ी थे। बादशाह ने निराश होकर कहा—"रोशन, इसे क़त्ल मत करना, काल-कोठरी में क़ैद कर दो। मुझसे पूछे बग़ैर इसे दाना-पानी कुछ न दिया जाय। जाकर इसके घर का सारा माल-असबाब ज़ब्त कर लो, और सारे ख़ानदान को जेल में बंद करा दो। इसके मकान की दीवारें ज़मींदोज़ करा देना। घर में एक फूटी हाँडी भी न रहने पावे।"

इससे तो कहीं अच्छा यही था कि राजा साहब ही की जान जाती। ख़ानदान की बेइज़्ज़ती तो न होती, महिलाओं का अपमान तो न होता, दरिद्रता की चोटें तो न सहनी पड़तीं! विकार को निकलने का मार्ग नहीं मिलता, तो वह सारे शरीर में फैल जाता है। राजा के प्राण तो बचे, पर सारे ख़ानदान को विपत्ति में डालकर!

रोशनुद्दौला को मुँह-माँगी मुराद मिली। उसकी ईर्ष्या कभी इतनी संतुष्ट न हुई थी। वह मग्न था कि आज वह काँटा निकल गया, जो बरसों से हृदय में चुभा हुआ था। आज हिंदू-राज्य का अंत हुआ। अब मेरा सिक्का चलेगा। अब मैं समस्त राज्य का विधाता होऊँगा। संध्या से पहले ही राजा साहब की सारी स्थावर और जंगम संपत्ति कुर्क़ हो गई। वृद्ध माता-पिता, सुकोमल रम-

ग्नियाँ, छोटे-छोटे बालक, सब-के-सब जेल में क़ैद कर दिए गए। कितनी करुण दशा थी! वे महिलाएँ, जिन पर कभी देवताओं की भी निगाह न पड़ी थी, खुले मुँह, नंगे पैर, पाँव घसीटती, शहर की भरी हुई सड़कों और गलियों से होती हुई, सिर झुकाए, शोक-चित्रों की भाँति, जेल की तरफ़ चली जाती थीं। सशस्त्र सिपाहियों का एक बड़ा दल साथ था। जिस पुरुष के एक इशारे पर कई घंटे पहले सारे शहर में हलचल मच जाती, उसी के ख़ानदान की यह दुर्दशा!

(२)

राजा बख़्तावरसिंह को बंदी-गृह में रहते हुए एक मास बीत गया। वहाँ उन्हें सभी प्रकार के कष्ट दिए जाते थे। यहाँ तक कि भोजन भी यथासमय न मिलता था। उनके परिवार को भी असह्य यातनाएँ दी जाती थीं। लेकिन राजा साहब को बंदी-गृह में एक प्रकार की शांति का अनुभव होता था। वहाँ प्रति क्षण यह खटका तो न रहता था कि बादशाह मेरी किसी बात से नाराज़ न हो जायँ; मुसाहब लोग कहीं मेरी शिकायत तो नहीं कर रहे हैं। शारीरिक कष्टों का सहना उतना कठिन नहीं, जितना मानसिक कष्टों का। यहाँ सब तकलीफ़ें थीं, पर सिर पर तलवार तो नहीं लटक रही थी। उन्होंने मन में निश्चय किया कि अब चाहे बादशाह मुझे मुक्त भी कर दें, मगर मैं राज-काज से अलग ही रहूँगा। इस राज्य का सूर्य अस्त होनेवाला है; कोई मानवी शक्ति उसे विनाश-निशा में लीन होने से नहीं रोक सकती। ये उसी पतन के लक्षण हैं; नहीं तो क्या मेरी राज्य-भक्ति का यही पुरस्कार मिलना चाहिए था! मैंने अब तक कितनी कठिनाइयों से राज्य की रक्षा की है, यह भगवान् ही जानते हैं। एक तो बादशाह की निरंकुशता, दूसरी ओर बलवान् और युक्ति-संपन्न शत्रुओं की कूट-

नीति—इस शिला और भँवर के बीच में राज्य की नौका चलाते रहना कितना कष्ट-साध्य था! शायद ही ऐसा कोई दिन गुज़रा होगा, जिस दिन मेरा चित्त प्राण-शंका से आंदोलित न हुआ हो। इस सेवा, भक्ति और तल्लीनता का यह पुरस्कार है! मेरे मुख से व्यंग्य-शब्द अवश्य निकले, लेकिन उनके लिये इतना कठोर दंड! इससे तो यह कहीं अच्छा होता कि मैं क़त्ल कर दिया गया होता। अपनी आँखों से अपने परिवार की यह दुर्गति तो न देखता। सुनता हूँ, पिताजी को सोने के लिये चटाई नहीं दी गई। न-जाने स्त्रियों पर कैसे-कैसे अत्याचार हो रहे होंगे। लेकिन, इतना जानता हूँ कि प्यारी सुखदा अंत तक अपने सतीत्व की रक्षा करेगी। अन्यथा प्राण त्याग देगी। मुझे इन बेड़ियों की परवा नहीं। पर सुनता हूँ, लड़कों के पैरों में भी बेड़ियाँ डाली गई हैं। यह सब इसी कुटिल रोशनुद्दौला की शरारत है। जिसका जी चाहे, इस समय सता ले, कुचल ले; मुझे किसी से कोई शिकायत नहीं। भगवान् से यही प्रार्थना है कि अब संसार से उठा ले। मुझे अपने जीवन में जो कुछ करना था, कर चुका, और उसका ख़ूब फल पा चुका। मेरे-जैसे आदमी के लिये संसार में स्थान नहीं है।

राजा साहब इन्हीं विचारों में डूबे थे। सहसा उन्हें अपनी काल-कोठरी की ओर किसी के आने की आहट मिली। रात बहुत जा चुकी थी। चारो ओर सन्नाटा छाया था, और इसी अंधकारमय सन्नाटे में किसी के पैरों की चाप स्पष्ट सुनाई देती थी। कोई बहुत पाँव दबा-दबाकर चला आ रहा था। राजा साहब का कलेजा धक्-धक् करने लगा। वह उठकर खड़े हो गए। हम निरस्त्र और प्रतिकार के लिये असमर्थ होने पर भी बैठे-बैठे वारों का निशाना बनना नहीं चाहते। खड़े हो जाना आत्म-रक्षा का अंतिम प्रयत्न

है। कोठरी में ऐसी कोई वस्तु न थी, जिससे वह अपनी रक्षा कर सकते। समझ गए, अंतिम समय आ गया। शत्रुओं ने इस तरह मेरे प्राण लेने की ठानी है। अच्छा है, जीवन के साथ इस विपत्ति का भी अंत हो जायगा।

एक क्षण में उनके सम्मुख एक आदमी आकर खड़ा हो गया। राजा साहब ने पूछा—"कौन है ?" उत्तर मिला—"मैं हूँ, आपका सेवक।"

राजा—"ओ हो, तुम हो कप्तान ! मैं शंका में पड़ा हुआ था कि कहीं शत्रुओं ने मेरा वध करने के लिये कोई दूत न भेजा हो।"

कप्तान—"शत्रुओं ने कुछ और ही ठानी है। आज बादशाह सलामत की जान बचती नहीं नज़र आती।"

राजा—"अरे ! यह क्योंकर ?"

कप्तान—"जब से आपको यहाँ नज़रबंद किया गया है, सारे राज्य में हाहाकार मचा हुआ है। स्वार्थी कर्मचारियों ने लूट मचा रक्खी है। अँगरेज़ों की ख़ुदाई फिर रही है। जो जी में आता है, करते हैं; किसी की मजाल नहीं कि चूँ कर सके। इस एक महीने में शहर के सैकड़ों बड़े-बड़े रईस मिट गए। रोशनुद्दौला की बादशाही है। बाज़ारों का भाव चढ़ता जाता है। बाहर से व्यापारी लोग डर के मारे कोई जिंस ही नहीं लाते। दूकानदारों से मनमानी रक़में महसूल के नाम पर वसूल की जा रही हैं। गल्ले का भाव इतना चढ़ गया है कि कितने ही घरों में चूल्हा जलने की नौबत नहीं आती। सिपाहियों को अभी तक तनख्वाह नहीं मिली। वे जाकर दूकानदारों को लूटते हैं। सारे राज्य में बद-अमली हो रही है। मैंने कई बार यह कैफ़ियत बादशाह-सलामत के कानों तक पहुँचाने की कोशिश की ; मगर वह यह तो कह देते हैं कि मैं इसकी तहक़ीक़ात करूँगा, और फिर बेख़बर हो जाते हैं। आज

शहर के बहुत-से दूकानदार फ़रियाद लेकर आए थे कि हमारे हाल पर निगाह न की गई, तो हम शहर छोड़कर और कहीं चले जायँगे। क्रिस्तानों ने उन्हें सख़्त कहा, धमकाया; लेकिन उन्होंने जब तक अपनी सारी मुसीबत न बयान कर ली, वहाँ से न हटे। आखिर जब बादशाह-सलामत ने उन्हें दिलासा दिया, तब कहीं गए।"

राजा—"बादशाह पर इतना असर हुआ, मुझे तो यही ताज्जुब है!"

कप्तान—"असर-वसर कुछ नहीं हुआ; यह भी उनकी एक दिल्लगी है। शाम को खास मुसाहबों को बुलाकर हुक्म दिया है कि आज मैं भेष बदलकर शहर का गश्त करूँगा; तुम लोग भी भेष बदले हुए मेरे साथ रहना। मैं देखना चाहता हूँ कि रियाया क्यों इतनी घबराई हुई है। सब लोग मुझसे दूर रहें; किसी को न मालूम हो कि मैं कौन हूँ। रोशनुद्दौला और पाँचो अँगरेज़-मुसाहब साथ रहेंगे।"

राजा—"तुम्हें क्योंकर यह बात मालूम हो गई?"

कप्तान—"मैंने इसी अँगरेज़ हज्जाम को मिला रक्खा है। दरबार में जो कुछ होता है, उसका पता मुझे मिल जाता है। उसी की सिफारिश से आपकी खिदमत में हाज़िर होने का मौक़ा मिला। घड़ियाल में १० बजते हैं, ग्यारह बजे चलने की तैयारी है। बारह बजते-बजते लखनऊ का तख़्त ख़ाली हो जायगा।"

राजा—(घबराकर) "क्या इन सबने उन्हें क़त्ल करने की साज़िश कर रक्खी है?"

कप्तान—"जी नहीं; क़त्ल करने से उनकी मंशा पूरी न होगी। बादशाह को बाज़ार की सैर कराते हुए गोमती की तरफ़ लेजायँगे। वहाँ अँगरेज़ सिपाहियों का एक दस्ता तैयार रहेगा। वह बादशाह को फ़ौरन् एक गाड़ी पर बिठाकर रेज़िडेंसी में ले जायगा। वहाँ रेज़िडेंट साहब बादशाह-सलामत को सल्तनत से इस्तीफ़ा देने पर

मजबूर करेंगे। उसी वक्त उनसे इस्तीफ़ा लिखा लिया जायगा, और इसके बाद रातोरात उन्हें कलकत्ते भेज दिया जायगा।"

राजा—"बड़ा ग़ज़ब हो गया। अब तो वक्त बहुत कम है; बादशाह-सलामत निकल पड़े होंगे?"

कप्तान—"ग़ज़ब क्या हो गया। इनकी जात से किसे आराम था। दूसरी हुकूमत चाहे कितनी ही ख़राब हो, इससे तो अच्छी ही होगी।"

राजा—"अँगरेज़ों की हुकूमत होगी?"

कप्तान—"अँगरेज़ इनसे कहीं बेहतर इंतजाम करेंगे।"

राजा—(करुण स्वर से) "कप्तान! ईश्वर के लिये ऐसी बातें न करो। तुमने मुझसे ज़रा देर पहले यह कैफ़ियत क्यों न बयान की?"

कप्तान—(आश्चर्य से) "आपके साथ तो बादशाह ने कोई अच्छा सलूक नहीं किया!"

राजा—"मेरे साथ कितना ही बुरा सलूक किया हो, लेकिन एक राज्य की क़ीमत एक आदमी या एक ख़ानदान की जान से कहीं ज्यादा होती है। तुम मेरे पैरों की बेड़ियाँ खुलवा सकते हो?"

कप्तान—"सारे अवध-राज्य में एक भी ऐसा आदमी न निकलेगा, जो बादशाह को सच्चे दिल से दुआ देता हो। दुनिया उनके जुल्म से तंग आ गई है।"

राजा—"मैं अपनों के ज़ुल्म को ग़ैरों की बंदगी से कहीं बेहतर ख़याल करता हूँ। बादशाह की यह हालत ग़ैरो ही के भरोसे पर हुई है। वह इसीलिये किसी की परवा नहीं करते कि उन्हें अँगरेज़ों की मदद का यक़ीन है। मैं इन फ़िरंगियों की चालों को ग़ौर से देखता आया हूँ। बादशाह के मिज़ाज को उन्हीं ने बिगाड़ा है। उनकी मंशा यही थी, जो हुआ। रियाया के दिल से बादशाह की इज्जत और मुहब्बत उठ गई। आज सारा मुल्क बग़ावत करने पर आमादा है। येलोग इसी मौक़े का इंतज़ार कर रहे थे। वह

जानते हैं कि बादशाह की माजूली (गद्दी से हटाए जाने) पर एक आदमी भी आँसू न बहावेगा। लेकिन मैं जताए देता हूँ कि अगर इस वक़्त तुमने बादशाह को दुश्मनों के हाथों से न बचाया, तो तुम हमेशा के लिये अपने ही वतन में गुलामी की ज़ंजीरों में बँध जाओगे। किसी ग़ैर क़ौम के चाकर बनकर अगर तुम्हें आफ़ियत (शांति) भी मिली, तो आफ़ियत न होगी ; वह मौत होगी। ग़ैरों के बेरहम पैरों के नीचे पड़कर तुम हाथ भी न हिला सकोगे, और यह उम्मीद कि कभी हमारे मुल्क में आईनी सल्तनत (वैध-शासन) क़ायम होगी, हसरत का दाग़ बनकर रह जायगी। नहीं, मुझमें अभी मुल्क की मुहब्बत बाक़ी है। मैं अभी इतना बेजान नहीं हुआ हूँ। मैं इतनी आसानी से सल्तनत को हाथ से न जाने दूँगा, अपने को इतने सस्ते दामों ग़ैरों के हाथों न बेचूँगा, मुल्क की इज़्ज़त को न मिटने दूँगा, चाहे इस कोशिश में मेरी जान ही क्यों न जाय। कुछ और नहीं कर सकता, अपनी जान तो दे ही सकता हूँ। मेरी बेड़ियाँ खोल दो।"

कप्तान—"मैं आपका ख़ादिम हूँ, मगर मुझे यह मजाज़ नहीं।"

राजा—(जोश में आकर) "ज़ालिम, यह इन बातों का वक़्त नहीं है। एक-एक पल हमें तबाही की तरफ़ लिये जा रहा है। खोल दे ये बेड़ियाँ। जिस घर में आग लगती है, उसके आदमी ख़ुदा को नहीं याद करते, कुएँ की तरफ़ दौड़ते हैं।"

कप्तान—"आप मेरे मुहसिन हैं। आपके हुक्म से मुँह नहीं मोड़ सकता। लेकिन—"

राजा—"जल्दी करो, जल्दी करो। अपनी तलवार मुझे दे दो। अब इन तकल्लुफ़ की बातों का मौक़ा नहीं है।"

कप्तान साहब निरुत्तर हो गए। सजीव उत्साह में बड़ी संक्रामक शक्ति होती है। यद्यपि राजा साहब के नीति-पूर्ण वार्तालाप ने उन्हें

माक़ूल नहीं किया, तथापि वह अनिवार्य रूप से उनकी बेड़ियाँ खोलने पर तत्पर हो गए। उसी वक़्त जेल के दारोग़ा को बुलाकर कहा—"साहब ने हुक्म दिया है कि राजा साहब को फ़ौरन् आज़ाद कर दिया जाय। इसमें एक पल की भी ताख़ीर (विलंब) हुई, तो तुम्हारे हक़ में अच्छा न होगा।"

दारोग़ा को मालूम था कि कप्तान साहब और मि०···में गाढ़ी मैत्री है। अगर···साहब नाराज़ हो जायँगे, तो रोशनुद्दौला की कोई सिफ़ारिश मेरी रक्षा न कर सकेगी। उसने राजा साहब की बेड़ियाँ खोल दीं।

राजा साहब जब तलवार हाथ में लेकर जेल से निकले, तो उनका हृदय राज्य-भक्ति की तरंगों से आंदोलित हो रहा था। उसी वक़्त घड़ियाल ने ग्यारह बजाए।

(३)

आधी रात का समय था। मगर लखनऊ की तंग गलियों में ख़ूब चहल-पहल थी। ऐसा मालूम होता था कि अभी सिर्फ़ नौ बजे होंगे। सराफ़े में सबसे ज़्यादा रौनक़ थी। मगर आश्चर्य यह था कि किसी दूकान पर जवाहरात या गहने नहीं दिखाई देते थे। केवल आदमियों के आने-जाने की भीड़ थी। जिसे देखो, पाँचो शस्त्रों से सुसज्जित, मूछें खड़ी किए, ऐंठता हुआ चला जाता है। बाज़ार के मामूली दूकानदार भी निःशस्त्र न थे।

सहसा एक आदमी, भारी साफ़ा बाँधे, पैर की घुटनियों तक नीची क़बा पहने, कमर में पटका बाँधे, आकर एक सराफ़ की दूकान पर खड़ा हो गया। जान पड़ता था, कोई ईरानी सौदागर है। उन दिनों ईरान के व्यापारी लखनऊ में बहुत आते-जाते थे। इस समय ऐसे किसी आदमी का आ जाना असाधारण बात न थी।

सराफ़ का नाम माधोदास था। बोला—"कहिए मीर साहब, कुछ दिखाऊँ?"

सौदागर—"सोने का क्या निर्ख़ है?"

माधो—(सौदागर के कान के पास मुँह ले जाकर) "निर्ख़ को कुछ न पूछिए। आज क़रीब एक महीने से बाज़ार का निर्ख़ बिगड़ा हुआ है। माल बाज़ार में आता ही नहीं। लोग दबाए हुए हैं; बाज़ारों में ख़ौफ़ के मारे नहीं लाते। अगर आपको ज़्यादा माल दरकार हो, तो मेरे साथ ग़रीबख़ाने तक तक़लीफ़ कीजिए। जैसा माल चाहिए, लीजिए। निर्ख़ मुनासिब ही होगा। इसका इतमीनान रखिए।"

सौदागर—"आजकल बाज़ार का निर्ख़ क्यों बिगड़ा हुआ है?"

माधो—"क्या आप हाल ही में वारिद हुए हैं?"

सौदागर—"हाँ, मैं आज ही आया हूँ। कहीं पहले की-सी रौनक़ नहीं नज़र आती। कपड़े का बाज़ार भी सुस्त है। ढाके का एक क़ीमती थान बहुत तलाश करने पर भी नहीं मिला।"

माधो—"इसके बड़े क़िस्से हैं; कुछ ऐसा ही मुआमला है।"

सौदागर—डाकुओं का ज़ोर तो नहीं है? पहले तो यहाँ इस क़िस्म की वारदातें नहीं होती थीं।"

माधोदास—"अब वह कैफ़ियत नहीं है। दिन-दहाड़े डाके पड़ते हैं। उन्हें कोतवाल क्या, बादशाह-सलामत भी गिरफ़्तार नहीं कर सकते। अब और क्या कहूँ। दीवार के भी कान होते हैं। कहीं कोई सुन ले, तो लेने के देने पड़ जायँ।"

सौदागर—"सेठजी, आप तो पहेलियाँ बुझाने लगे। मैं परदेसी आदमी हूँ; यहाँ किससे कहने जाऊँगा। आख़िर बात क्या है? बाज़ार क्यों इतना बिगड़ा हुआ है? नाज की मंडी की तरफ़

गया, तो वहाँ भी सन्नाटा छाया हुआ था। मोटी जिंस भी दूने दामों पर बिक रही थी।"

माधो—(इधर-उधर चौकन्नी आँखों से देखकर) "एक महीना हुआ, रोशनुद्दौला के हाथ में स्याह-सफ़ेद करने का अख़्तियार आ गया है। यह सब उन्हीं की बद-इंतज़ामी का फल है। उनके पहले राजा बख़्तावरसिंह हमारे मालिक थे। उनके वक्त में किसी की मजाल न थी कि व्यापारियों को टेढ़ी आँख से देख सकता। उनका रोब सभी पर छाया हुआ था। फिरंगियों पर उनकी कड़ी निगाह रहती। हुक्म था कि कोई फ़िरंगी बाज़ार में आवे, तो थाने का सिपाही उसकी देख-भाल करता रहे। इसी वजह से फ़िरंगी उनसे जला करते थे। आख़िर सबने रोशनुद्दौला को मिलाकर बख़्तावरसिंह को बेक़ुसूर क़ैद करा दिया। बस, तब से बाज़ार में लूट मची हुई है। सरकारी अमले अलग लूटते हैं; फिरंगी अलग नोचते-खसोटते हैं। जो चीज़ चाहते हैं, उठा ले जाते हैं। दाम माँगो, तो धमकियाँ देते हैं। शाही दरबार मे फ़रियाद करो, तो उलटे सज़ा होती है। अभी हाल ही में हम सब मिलकर बादशाह-सलामत की ख़िदमत में हाज़िर हुए थे। पहले तो वह बहुत ही नाराज़ हुए, पर आख़िर रहम आ गया। बादशाहों का मिज़ाज ही तो है। हमारी सब शिकायतें सुनीं, और तसकीन दी कि हम तहक़ीक़ात करेंगे। मगर अभी तक तो वही लूट-खसोट ज़ारी है।"

इतने में तीन आदमी राजपूती ढंग की मिर्ज़ई पहने, आकर दूकान के सामने खड़े हो गए। माधोदास उनका रंग-ढंग देखकर चौंका। शाही फ़ौज के सिपाही बहुधा इसी सज-धज से निकलते थे। तीनो आदमी भी सौदागर को देखकर ठिठके; पर उसने उन्हें कुछ ऐसी निगाहों से देखा कि तीनो आगे चले गए। तब सौदागर ने माधो-दास से पूछा—"इन्हें देखकर तुम क्यों चौंके?"

माधोदास ने कहा—"ये फ़ौज के सिपाही हैं। जब से राजा बख़्तावरसिंह नज़र-बंद हुए हैं, इन पर किसी की दाब ही नहीं रही। खुले साँड़ की तरह बज़ारों में चक्कर लगाया करते हैं। सरकार से तलब मिलने का कुछ ठीक तो है नहीं। बस, नोच-खसोट करके गुजर करते हैं। हाँ, तो फिर अगर मरज़ी हो, तो मेरे साथ घर तक चलिए, आपको माल दिखाऊँ।"

सौदागर—"नहीं भई, इस वक़्त नहीं ; सुबह आऊँगा। देर हो गई है, और मुझे भी यहाँ की हालत देखकर ख़ौफ़ मालूम होने लगा है।"

यह कहकर सौदागर उसी तरफ़ चला गया, जिधर वे तीनो राजपूत गए थे। थोड़ी देर में और तीन आदमी सराफ़े में आए। एक तो पंडितों की तरह नीची चपकन पहने हुए था ; सिर पर गोल पगिया थी, और कंधे पर ज़री के काम का शाल। उसके दोनो साथी ख़िदमतगारों के-से कपड़े पहने हुए थे, तीनो इस तरह इधर-उधर ताक रहे थे, मानो किसी को खोज रहे हों। यों ताकते हुए तीनो आगे चले गए।

ईरानी सौदागर तीव्र नेत्रों से इधर-उधर देखता हुआ एक मील चला गया। वहाँ एक छोटा-सा बाग़ था। एक पुरानी मस्जिद भी थी। सौदागर वहाँ ठहर गया। एकाएक तीनो राजपूत मस्जिद से बाहर निकल आए, और बोले—"हुज़ूर तो बहुत देर तक सराफ़ की दूकान पर बैठे रहे। क्या बातें हुई?"

सौदागर ने अभी कुछ जवाब न दिया था कि पीछे से पंडित और उनके दोनो ख़िदमतगार भी आ पहुँचे। सौदागर ने पंडित को देखते ही भर्त्सना-पूर्ण शब्दों में कहा—"मियाँ रोशनुद्दौला, मुझे इस वक़्त तुम्हारे ऊपर इतना ग़ुस्सा आ रहा है कि तुम्हें कुत्तों से नुचवा दूँ। नमकहराम कहीं का! दग़ाबाज़!! तूने मेरी सल्तनत

को तबाह कर दिया! सारा शहर तेरे ज़ुल्म का रोना रो रहा है! मुझे आज मालूम हुआ कि तूने क्यों राजा बख़्तावरसिंह को क़ैद कराया। मेरी अक़्ल पर न-जाने क्यों पत्थर पड़ गए थे, कि मैं तेरी चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गया। इस नमकहरामी की तुझे वह सज़ा दूँगा कि देखनेवालों को भी इबरत (शिक्षा) हो।"

रोशनुद्दौला ने निर्भीकता से उत्तर दिया—"आप मेरे बादशाह हैं, इसलिये आपका अदब करता हूँ, वर्ना इसी वक़्त इस बद-ज़बानी का मज़ा चखा देता। ख़ुद आप तो महल में हसीनों के साथ ऐश किया करते हैं, दूसरों को क्या ग़रज़ पड़ी है कि सल्तनत की फ़िक्र से दुबले हों। ख़ूब, हम अपना ख़ून जलावें, और आप जशन मनावें। ऐसे अहमक़ कहीं और रहते होंगे।"

बादशाह (क्रोध से काँपते हुए)—"मि०...मैं तुम्हें हुक्म देता हूँ कि इस नमकहराम को अभी गोली मार दो। मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता; और इसी वक़्त जाकर इसकी सारी जायदाद ज़ब्त कर लो। इसके ख़ानदान का एक बच्चा भी ज़िंदा न रहने पावे।"

रोशनुद्दौला—"मि०...मैं तुमको हुक्म देता हूँ कि इस मुल्क और क़ौम के दुश्मन, रैयत-क़ातिल और बदकार आदमी को फ़ौरन् गिरफ़्तार कर लो। यह इस क़ाबिल नहीं कि ताज और तख़्त का मालिक बने।"

इतना सुनते ही पाँचो अँगरेज़-मुसाहबों ने, जो भेष बदले हुए साथ थे, बादशाह के दोनो हाथ पकड़ लिए, और खींचते हुए गोमती की तरफ़ ले चले। बादशाह की आँखें खुल गईं। समझ गए कि पहले ही से यह षड्यंत्र रचा गया था। इधर-उधर देखा, कोई आदमी नहीं। शोर मचाना व्यर्थ था। बादशाही का नशा उतर गया। दुरवस्था वह परीक्षाग्नि है, जो मुलम्मे और रोग़न को उतारकर मनुष्य का यथार्थ रूप दिखा देती है।

ऐसे ही अवसरों पर विदित होता है कि मानव-हृदय पर कृत्रिम भावों का कितना गहरा रंग चढ़ा होता है। एक क्षण में बादशाह की उद्दंडता और घमंड ने दीनता और विनयशीलता का आश्रय लिया। बोले—"मैंने तो आप लोगों की मरज़ी के ख़िलाफ़ ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसकी यह सज़ा मिले। मैंने आप लोगों को हमेशा अपना दोस्त समझा है।"

रोशनुद्दौला—"तो हम लोग जो कुछ कर रहे हैं, वह भी आपके फ़ायदे के लिये ही कर रहे हैं। हम आपके सिर से सल्तनत का बोझ उतारकर आपको आज़ाद कर देंगे, तब आपके ऐश में ख़लल न पड़ेगा। आप बेफ़िक्र होकर हसीनों के साथ ज़िंदगी के मजे लूटिएगा।"

बादशाह—"तो क्या आप लोग मुझे तख़्त से उतारना चाहते हैं?"

रोशनुद्दौला—"नहीं, आपको बादशाही की ज़िम्मेदारियों से आज़ाद कर देना चाहते हैं।"

बादशाह—"हज़रत इमाम की क़सम, मैं यह ज़िल्लत न बर्दाश्त करूँगा। मैं अपने बुज़ुर्गों का नाम न डूबाऊँगा।"

रोशनुद्दौला—"आपके बुजुर्गों के नाम की फ़िक्र हमें आपसे ज़्यादा है। आपकी ऐशपरस्ती बुज़ुर्गों का नाम रोशन नहीं कर रही है।"

बादशाह—(दीनता से) "मैं वादा करता हूँ कि आइंदा से मैं आप लोगों को शिकायत का कोई मौक़ा न दूँगा।"

रोशनुद्दौला—"नशेबाज़ों के वादों पर कोई दीवाना ही यक़ीन कर सकता है।"

बादशाह—"तुम मुझे तख़्त से ज़बरदस्ती नहीं उतार सकते।"

रोशनुद्दौला—"इन धमकियों की ज़रूरत नहीं। चुपचाप चले चलिए; आगे आपको सेज-गाड़ी मिल जायगी; हम आपको इज़्ज़त के साथ रुख़सत करेंगे।"

बादशाह—"आप जानते हैं, रियाया पर इसका क्या असर होगा ?"

रोशनुद्दौला—"ख़ूब जानता हूँ ! आपकी हिमायत में एक उगली भी न उठेगी । कल सारी सल्तनत में घी के चिराग़ जलेंगे ।"

इतनी देर में सब लोग उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ बादशाह को ले जाने के लिये सवारी तैयार खड़ी थी । लगभग पचीस सशस्त्र गोरे सिपाही भी खड़े थे । बादशाह सेज-गाड़ी को देखकर मचल गए । उनके रुधिर की गति तीव्र हो गई ; भोग और विलास के नीचे दबी हुई मर्यादा सजग हो गई । उन्होंने ज़ोर से झटका देकर अपना हाथ छुड़ा लिया, और नैराश्य-पूर्ण दुस्साहस के साथ, परिणाम-भय को त्यागकर, उच्च स्वर से बोले—"ऐ लखनऊ के बसनेवालो ! तुम्हारा बादशाह यहाँ दुश्मनों के हाथों क़त्ल किया जा रहा है । उसे इनके हाथ से बचाओ, दौड़ो, वर्ना पछताओगे !"

यह आर्त पुकार आकाश की नीरवता को चीरती हुई गोमती की लहरों में विलीन नहीं हुई ; बल्कि लखनऊवालों के हृदयों में जा पहुँची । राजा बख़्तावरसिंह बंदी-गृह से निकलकर नगर-निवासियों को उत्तेजित करते, और प्रतिक्षण रक्षाकारियों के दल को बढ़ाते, बड़े वेग से दौड़े चले आ रहे थे । एक पल का विलंब भी षड्यंत्रकारियों के घातक विरोध को सफल कर सकता था । देखते-देखते उनके साथ दो-तीन हज़ार सशस्त्र मनुष्यों का दल हो गया था । यह सामूहिक शक्ति बादशाह और लखनऊ-राज्य का उद्धार कर सकती थी । समय सब कुछ था । बादशाह गोरी सेना के पंजे में फँस गए, तो फिर समस्त लखनऊ भी उन्हें मुक्त न कर सकता था । राजा साहब ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे, नैराश्य से दिल बैठा जाता था । विफल-मनोरथ होने की शंका से उत्साह भंग हुआ जाता था । अब तक कहीं उन लोगों का पता नहीं ! अवश्य हम

देर में पहुँचे। विद्रोहियों ने अपना काम पूरा कर लिया। लखनऊ-राज्य की स्वाधीनता सदा के लिये विसर्जित हो गई!

वे लोग निराश होकर लौटना ही चाहते थे कि अचानक बादशाह का आर्त नाद सुनाई दिया। कई हज़ार कंठों से आकाश-भेदी ध्वनि निकली—"हुज़ूर को ख़ुदा सलामत रक्खे, हम फ़िदा होने को आ पहुँचे!"

समस्त दल एक ही प्रबल इच्छा से प्रेरित होकर, वेगवती जल-धारा की भाँति, घटना-स्थल की ओर दौड़ा। अशक्त लोग भी सशक्त हो गए। पिछड़े हुए लोग आगे निकल जाना चाहते थे। आगे के लोग चाहते थे कि उड़कर जा पहुँचें।

इन आदमियों की आहट पाते ही गोरों ने बंदूक़ें भरीं, और पचीस बंदूक़ों की बाढ़ सर हो गई। रक्षाकारियों में से कितने ही लोग गिर पड़े; मगर क़दम पीछे न हटे। वीर-मद ने और भी मतवाला कर दिया। एक क्षण में दूसरी बाढ़ आई; कुछ लोग फिर वीर-गति को प्राप्त हुए। लेकिन क़दम आगे ही बढ़ते गए। तीसरी बाढ़ छूटनेवाली ही थी कि लोगों ने विद्रोहियों को जा लिया। गोरे भागे।

लोग बादशाह के पास पहुँचे। अद्भुत दृश्य था। बादशाह रोशनुद्दौला की छाती पर सवार थे। जब गोरे जान लेकर भागे, तो बादशाह ने इस नर-पिशाच को पकड़ लिया था, और उसे बल-पूर्वक भूमि पर गिराकर उसकी छाती पर बैठ गए थे। अगर उनके हाथों में हथियार होता, तो इस वक़्त रोशनुद्दौला की लाश फड़कती हुई दिखाई देती।

राजा बख़्तावर सिंह आगे बढ़कर बादशाह को आदाब बजा लाए। लोगों की जय-ध्वनि से आकाश हिल उठा। कोई बादशाह के पैरों को चूमता, कोई उन्हें आशीर्वाद देता।

रोशनुद्दौला का शरीर तो लात और घूसों का लक्ष्य बना हुआ था। कुछ बिगड़े- दिल ऐसे भी थे, जो उसके मुँह पर थूकते भी संकोच न करते थे।

(४)

प्रातःकाल था। लखनऊ में आनंदोत्सव मनाया जा रहा था। बादशाही महल के सामने लाखों आदमी जमा थे। सब लोग बादशाह को यथायोग्य नज़र देने आए थे। जगह-जगह ग़रीबों को भोजन कराया जा रहा था। शाही नौबतख़ाने में नौबत बज रही थी।

दरबार सजा। बादशाह हीरे-जवाहरात से जगमगाते, रत्न-जटित आभूषणों से सजे हुए सिंहासन पर आ विराजे। रईसों और अमीरों ने नज़रें गुज़ारीं! शायरों ने क़सीदे पढ़े। एकाएक बादशाह ने पूछा—"राजा बख़्तावरसिंह कहाँ हैं?" कप्तान ने जवाब दिया—"क़ैदख़ाने में।"

बादशाह ने उसी वक्त कई कर्मचारियों को भेजा कि राजा साहब को जेलख़ाने से इज़्ज़त के साथ लावें। जब थोड़ी देर के बाद राजा ने आकर बादशाह को सलाम किया, वह तख़्त से उतरकर उनसे गले मिले, और उन्हें अपनी दाहनी ओर सिंहासन पर बैठाया। फिर दरबार में खड़े होकर उनकी सुकीर्ति और राज-भक्ति की प्रशंसा करने के उपरांत अपने ही हाथों से उन्हें ख़िलअत पहनाई। राजा साहब के कुटुंब के प्राणी भी आदर और सम्मान के साथ बिदा किए गए।

अंत को जब दोपहर के समय दरबार बर्ख़ास्त होने लगा, तो बादशाह ने राजा साहब से कहा—"आपने मुझ पर और मेरी सल्तनत पर जो एहसान किया है, उसका सिला (पुरस्कार) देना मेरे इमकान से बाहर है। मेरी आपसे यही इल्तिजा (अनुरोध)

है कि आप वज़ारत का क़लमदान अपने हाथ में लीजिए, और सल्तनत का, जिस तरह मुनासिब समझिए, इंतज़ाम कीजिए। मैं आपके किसी काम में दख़ल न दूँगा। मुझे एक गोशे में पड़ा रहने दीजिए। नमकहराम रोशनी को भी मैं आपके सिपुर्द किए देता हूँ। आप जो सज़ा चाहें, इसे दें। मैं इसे कब का जहन्नुम भेज चुका होता; पर यह समझकर कि यह आपका शिकार है, इसे छोड़े हुए हूँ।"

लेकिन बख़्तावरसिंह बादशाह के उच्छृंखल स्वभाव से भली भाँति परिचित थे। वह जानते थे। बादशाह की ये सदिच्छाएँ थोड़े ही दिनों की मेहमान हैं। मानव-चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन बहुत कम हुआ करते हैं। दो-चार महीने में दरबार का फिर वही रंग हो जायगा। इसलिये मेरा तटस्थ रहना ही अच्छा है। राज्य के प्रति मेरा जो कुछ कर्तव्य था, वह मैंने पूरा कर दिया। मैं दरबार से अलग रहकर निष्काम भाव से जितनी सेवा कर सकता हूँ, उतनी दरबार में रहकर कदापि नहीं कर सकता। हितैषी मित्र का जितना सम्मान होता है, स्वामि-भक्त सेवक का उतना नहीं हो सकता।

वह विनीत भाव से बोले—"हुज़ूर, मुझे इस ओहदे से मुआफ़ रक्खें। मैं यों ही आपका ख़ादिम हूँ। इस मंसब पर किसी लायक़ आदमी को मामूर फ़रमाइए (नियुक्त कीजिए)। मैं अक्खड़ राजपूत हूँ। मुल्की इंतज़ाम करना क्या जानूँ।"

बादशाह—"मुझे तो आपसे ज़्यादा लायक़ और वफ़ादार आदमी नज़र नहीं आता।"

मगर राजा साहब उनकी बातों में न आए। आख़िर मजबूर होकर बादशाह ने उन्हें ज़्यादा न दबाया। दम-भर बाद जब रोशनुद्दौला को सज़ा देने का प्रश्न उठा, तब दोनो आदमियों में

इतना मत-भेद हुआ कि वाद-विवाद की नौबत आ गई। बादशाह आग्रह करते थे कि इसे कुत्तों से नुचवा दिया जाय। राजा साहब इस बात पर अड़े हुए थे कि इसे जान से न मारा जाय, केवल नज़रबंद कर दिया जाय। अंत में बादशाह ने क्रुद्ध होकर कहा—"यह एक दिन आपको ज़रूर दग़ा देगा!"

राजा—"इस ख़ौफ़ से मैं इसकी जान न लूँगा।"

बादशाह—"तो जनाब, आप चाहे इसे मुआफ़ कर दें, मैं कभी मुआफ़ नहीं कर सकता।"

राजा—"आपने तो इसे मेरे सिपुर्द कर दिया है। दी हुई चीज़ आप वापस कैसे लेंगे?"

बादशाह ने कहा—"तुमने मेरे निकलने का कहीं रास्ता ही नहीं रक्खा।"

रोशनुद्दौला की जान बच गई। वज़ारत का पद कप्तान साहब को मिला। मगर सबसे विचित्र बात यह थी कि रेज़ीडेंट ने इस षड्यंत्र से पूर्ण अनभिज्ञता प्रकट की, और साफ़ लिख दिया कि बादशाह-सलामत अपने अँगरेज़-मुसाहबों को चाहे जो सज़ा दें, मुझे कोई आपत्ति न होगी। मैं उन्हें पाता, तो स्वयं बादशाह की ख़िदमत में भेज देता, लेकिन पाँचो महानुभाओं में से एक का भी पता न चला। शायद वे सब-के-सब रातोरात कलकत्ते भाग गए थे। इतिहास में उक्त घटना का कहीं उल्लेख नहीं किया गया; लेकिन किंवदंतियाँ, जो इतिहास से अधिक विश्वसनीय हैं, उसकी सत्यता की साक्षी हैं।

अधिकार-चिंता

(१)

टामी यों देखने में तो बहुत तगड़ा था। भूँकता, तो सुननेवालों के कानों के परदे फट जाते। डील-डौल भी ऐसा कि अँधेरी रात में उस पर गधे का भ्रम हो जाता; लेकिन उसकी श्वानोचित वीरता किसी संग्राम-क्षेत्र में प्रमाणित न होती थी। दो-चार दफ़े जब बाज़ार के लेंडियों ने उसे चुनौती दी, तो वह उनका गर्व-मर्दन करने के लिये मैदान में आया। देखनेवालों का कहना है कि वह जब तक लड़ा, जीवट से लड़ा; नखों और दाँतों से ज़्यादा चोटें उसकी दुम ने कीं। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मैदान किसके हाथ रहता, किंतु जब उस दल को कुमक मँगानी पड़ी, तो रण-शास्त्र के नियमों के अनुसार विजय का श्रेय टामी को ही देना न्यायानुकूल उचित जान पड़ता है। टामी ने उस अवसर पर कौशल से काम लिया, और दाँत निकाल दिए, जो संधि की याचना थी; किंतु तब से उसने ऐसे सन्नीति-विहीन प्रतिद्वंद्वियों के मुँह लगना उचित न समझा।

इतना शांति-प्रिय होने पर भी टामी के शत्रुओं की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जाती थी। उसके बराबरवाले तो उससे इसलिये जलते कि वह इतना मोटा-ताज़ा होकर इतना भीरु क्यों है। बाज़ारी दल इसलिये जलता कि टामी के मारे घूरों पर की हड्डियाँ भी न बचने पाती थीं। वह घड़ी रात रहे उठता, और हलवाइयों की दूकानों के सामने के दोने और पत्तल, क़साईखाने के सामने की हड्डियाँ और छीछड़े चबा डालता। अतएव इतने शत्रुओं के बीच में रहकर टामी का जीवन संकटमय होता जाता था। महीनों बीत

जाते, और पेट-भर भोजन न मिलता। दो-तीन बार उसे मनमाने भोजन करने की ऐसी प्रबल उत्कंठा हुई कि उसने संदिग्ध साधनों द्वारा उसे पूरी करने की चेष्टा की; पर जब परिणाम आशा के प्रतिकूल हुआ, और स्वादिष्ठ पदार्थों के बदले अरुचिकर, दुर्ग्राह्य वस्तुएँ भर-पेट खाने को मिलीं—जिससे पेट के बदले कई दिन तक पीठ में विषम वेदना होती रही—तो उसने विवश हो कर फिर सन्मार्ग का आश्रय लिया। पर डंडों से पेट चाहे भर गया हो, वह उत्कंठा शांत न हुई। वह किसी ऐसी जगह जाना चाहता था, जहाँ ख़ूब शिकार मिले; ख़रगोश, हिरन, भेड़ों के बच्चे मैदानों में विचर रहे हों; और उनका कोई मालिक न हो, जहाँ किसी प्रतिद्वंद्वी की गंध तक न हो; आराम करने को सघन वृक्षों की छाया हो, पीने को नदी का पवित्र जल। वहाँ मन-माना शिकार करूँ, खाऊँ और मीठी नींद सोऊँ। वहाँ चारों ओर मेरी धाक बैठ जाय; सब पर ऐसा रोब छा जाय कि मुझको ही अपना राजा समझने लगें, और धीरे-धीरे मेरा ऐसा सिक्का बैठ जाय कि किसी द्वेषी को वहाँ पैर रखने का साहस ही न हो।

संयोग-वश एक दिन वह इन्हीं कल्पनाओं के सुख-स्वप्न देखता हुआ सिर झुकाए सड़क छोड़कर गलियों से चला जा रहा था कि सहसा एक सज्जन से उसकी मुठभेड़ हो गई। टामी ने चाहा कि बच-कर निकल जाऊँ; पर वह दुष्ट इतना शांति-प्रिय न था। उसने तुरंत झपटकर टामी का टेटुआ पकड़ लिया। टामी ने बहुत अनुनय-विनय की; गिड़गिड़ाकर कहा—"ईश्वर के लिये मुझे यहाँ से चले जाने दो; क़सम ले लो, जो इधर पैर रक्खूँ। मेरी शामत आई थी कि तुम्हारे अधिकार-क्षेत्र में चला आया।" पर उस मदांध और निर्दय प्राणी ने ज़रा भी रियायत न की। अंत में हारकर टामी ने गर्दभ-स्वर में फ़रियाद करनी शुरू की। यह कोलाहल सुनकर मोहल्ले के

दो-चार नेता लोग एकत्र हो गए ; पर उन्होंने भी दीन पर दया करने के बदले उलटे उसी पर दंत-प्रहार करना शुरू किया। इस अन्याय-पूर्ण व्यवहार ने टामी का दिल तोड़ दिया। वह जान छोड़-कर भागा। उन अत्याचारी पशुओं ने बहुत दूर तक उसका पीछा किया ; यहाँ तक कि मार्ग में एक नदी पड़ गई। टामी ने उसमें कूदकर अपनी जान बचाई।

कहते हैं, एक दिन सबके दिन फिरते हैं। टामी के दिन भी नदी में कूदते ही फिर गए। कूदा था जान बचाने के लिये, हाथ लग गए मोती। तैरता हुआ उस पार पहुँचा, तो वहाँ उसकी चिर-संचित अभिलाषाएँ मूर्तिमती हो रही थीं।

(२)

एक विस्तृत मैदान था। जहाँ तक निगाह जाती, हरियाली की छटा दिखाई देता। कहीं नालों का मधुर कलरव था, कहीं झरनों का मंद गान ; कहीं वृक्षों के सुखद पुंज, कहीं रेत के सपाट मैदान। बड़ा सुरम्य-मनोहर दृश्य था।

यहाँ बड़े तेज़ नखोंवाले पशु थे, जिनकी सूरत देखकर टामी का कलेजा दहल उठता। उन्होंने टामी की कुछ परवा न की। वे आपस में नित्य लड़ा करते ; नित्य ख़ून की नदी बहा करती थी। टामी ने देखा, यहाँ इन भयंकर जंतुओं से पेश न पा सकूँगा। उनसे कौशल से काम लेना शुरू किया। जब दो लड़ने-वाले पशुओं में एक घायल और मुर्दा होकर गिर पड़ता, तो टामी लपककर मांस का कोई टुकड़ा ले भागता और एकांत में बैठकर खाता। विजयी पशु विजयी के उन्माद में उसे तुच्छ समझकर कुछ न बोलता।

अब क्या था, टामी के पौ-बारह हो गए। सदा दिवाली रहने लगी। न गुड़ की कमी थी, न गेहूँ की। नित-नए पदार्थ उड़ाता,

ज्यों-ज्यों दिन गुज़रते थे, और उसके सुख-भोग का चसका बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उसकी चिंता भी बढ़ती जाती थी। वह अब बहुधा रात को चौंक पड़ता, और किसी अज्ञात शत्रु के पीछे दौड़ता। अक्सर 'अंधा कूकुर बतासे भूँके" वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करता; वन के पशुओं से कहता—"ईश्वर न करे, तुम किसी दूसरे शासक के पंजे में फँस जाओ। वह तुम्हें पीस डालेगा। मैं तुम्हारा हितैषी हूँ। सदैव तुम्हारी शुभ कामना में मग्न रहता हूँ। किसी दूसरे से यह आशा मत रक्खो।" पशु एक ही स्वर से कहते—"जब तक हम जिएँगे, आपके ही अधीन रहेंगे!"

आख़िरकार यह हुआ कि टामी को क्षण-भर भी शांति से बैठना दुर्लभ हो गया। वह रात-रात और दिन-दिन-भर नदी के किनारे इधर-से-उधर चक्कर लगाया करता। दौड़ते-दौड़ते हाँफने लगता, बेदम हो जाता; मगर चित्त को शांति न मिलती। कहीं कोई शत्रु न घुस आए।

लेकिन क्वार का महीना आया, तो टामी का चित्त एक बार फिर अपने पुराने सहचारों से मिलने के लिये लालायित होने लगा। वह अपने मन को किसी भाँति रोक न सका। उसे वह दिन याद आया, जब वह दो-चार मित्रों के साथ किसी प्रेमिका के पीछे गली-गली और कूचे-कूचे में चक्कर लगाता था। दो-चार दिन उसने सब्र किया, पर अंत में आवेग इतना प्रबल हुआ कि वह तक़दीर ठोककर खड़ा हो गया। उसे अब अपने तेज और बल पर अभिमान भी था। दो-चार को तो वह अकेले मज़ा चखा सकता था।

किंतु नदी के इस पार आते ही उसका आत्मविश्वास प्रातःकाल के तम के समान फटने लगा। उसकी चाल मंद पड़ गई, सिर आप-ही-आप झुक गया, दुम सिकुड़ गई; मगर एक प्रेमिका को आते देखकर वह विह्वल हो उठा। उसके पीछे हो लिया। प्रेमिका को

उसकी वह कुचेष्टा अप्रिय लगी। उसने तीव्र स्वर से उसकी अव-हेलना की। उसकी आवाज़ सुनते ही उसके कई प्रेमी आ पहुँचे, और टामी को वहाँ देखते ही जामे से बाहर हो गए। टामी सिटपिटा गया। अभी निश्चय न कर सका था कि क्या करूँ कि चारो ओर से उस पर दाँतों और नखों की वर्षा होने लगी। भागते भी न बन पड़ा। देह लहू-लुहान हो गई। भागा भी, तो शैतानों का एक दल पीछे था।

उस दिन से उसके दिल में शंका-सी समा गई। हर घड़ी यह भय लगा रहता कि आक्रमणकारियों का दल मेरे सुख और शांति में बाधा डालने के लिये, मेरे स्वर्ग को विध्वंस करने के लिये, आ रहा है। यह शंका पहले भी कम न थी; अब और भी बढ़ गई।

एक दिन उसका चित्त भय से इतना व्याकुल हुआ कि उसे जान पड़ा, शत्रु-दल आ पहुँचा। वह बड़े वेग से नदी के किनारे आया, और इधर-से-उधर दौड़ने लगा।

दिन बीत गया, रात बीत गई; पर उसने विश्राम न लिया। दूसरा दिन आया, और गया, पर टामी निराहार-निर्जल, नदी-किनारे चक्कर लगाता रहा।

इस तरह पाँच दिन बीत गए। टामी के पैर लड़खड़ाने लगे, आँखों-तले अँधेरा छाने लगा। क्षुधा से व्याकुल होकर गिर-गिर पड़ता, पर वह शंका किसी भाँति शांत न होती।

अंत में सातवें दिन अभागा टामी अधिकार-चिंता से ग्रस्त, जर्जर और शिथिल होकर परलोक सिधारा। वन का कोई पशु उसके निकट न गया। किसी ने उसकी चर्चा तक न की; किसी ने उसकी लाश पर आँसू तक न बहाए। कई दिनों तक उस पर गिद्ध और कौए मँडराते रहे; अंत में अस्थि-पंजरों के सिवा और कुछ न रह गया।

दुराशा

(प्रहसन)

पात्र

दयाशंकर................कार्यालय के एक साधारण लेखक ।

आनंदमोहन.........{ कॉलेज का एक विद्यार्थी तथा दयाशंकर का मित्र ।

ज्योतिस्वरूप.........दयाशंकर का एक सुदूर-संबंधी ।

सेवती......... .....दयाशंकर की पत्नी ।

होली का दिन

[समय—९ बजे रात्रि । आनंदमोहन तथा दयाशंकर वार्तालाप करते जा रहे हैं]

आनंदमोहन—"हम लोगों को देर तो नहीं हुई। अभी तो नव बजे होंगे ।"

दयाशंकर—"नहीं, अभी क्या देर होगी ?"

आनंदमोहन—"वहाँ बहुत इंतज़ार न कराना, क्योंकि एक तो दिन-भर गली-गली घूमने के पश्चात् मुझमें इंतज़ार करने की शक्ति ही नहीं, दूसरे ठीक ग्यारह बजे बोर्डिंग-हाउस का दरवाज़ा बंद हो जाता है ।"

दयाशंकर—"अजी, चलते-चलते थाली सामने आएगी । मैंने तो सेवती से पहले ही कह दिया है कि नव बजे तक सब सामान तैयार रखना ।"

आनंदमोहन—"तुम्हारा घर तो अभी दूर है। यहाँ मेरे पैरों में चलने की शक्ति ही नहीं। आओ, कुछ बातचीत करते चलें। भला यह तो बताओ कि परदे के संबंध में तुम्हारा क्या विचार है? भाभीजी मेरे सामने आएँगी, या नहीं। क्या मैं उनके चंद्र-मुख का दर्शन कर सकूँगा? सच कहो।"

दयाशंकर—"तुम्हारे और मेरे बीच में तो भाईचारे का संबंध है। यदि सेवती मुँह खोले हुए भी तुम्हारे सम्मुख आ जाय, तो मुझे कोई ग्लानि नहीं। किंतु साधारणतः मैं परदे की प्रथा का सहायक और समर्थक हूँ, क्योंकि हम लोगों की सामाजिक नीति इतनी पवित्र नहीं की कोई स्त्री अपने लज्जा-भाव को चोट पहुँचाए, बिना ही अपने घर से बाहर निकले।"

आनंदमोहन—"मेरे विचार में तो परदा ही कुचेष्टाओं का मूल-कारण है। परदे से स्वभावतः पुरुषों के चित्त में उत्सुकता उत्पन्न होती है, और वह भाव कभी तो बोली-ठोली में प्रकट होता है, और कभी नेत्रों के कटाक्षों में।"

दयाशंकर—"जब तक हम लोग इतने दृढ़-प्रतिज्ञ न हो जायँ कि सतीत्व-रक्षा के पीछे प्राण भी बलिदान कर दें, तब तक परदे की प्रथा का तोड़ना समाज-मार्ग में विष बोना है।"

आनंदमोहन—"आपके विचार से तो यही सिद्ध होता है कि योरप में सतीत्व-रक्षा के लिये रात-दिन रुधिर की नदियाँ बहा करती हैं।"

दयाशंकर—"वहाँ इसी बेपरदगी ने तो सतीत्व-धर्म को निर्मूल कर दिया है। अभी मैंने किसी समाचार-पत्र में पढ़ा था कि एक स्त्री ने किसी पुरुष पर इस प्रकार का अभियोग चलाया था कि उसने मुझे निर्भीकता-पूर्वक कुदृष्टि से घूरा था; किंतु विचारक ने उस स्त्री को नख-शिख से देख यह कहकर मुक़दमा ख़ारिज कर दिया कि प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि हाट-बाट में नौजवान स्त्री को घूर-

कर देखे। मुझे तो यह अभियोग और यह फ़ैसला सर्वथा हास्यास्पद जान पड़ते हैं, और किसी भी समाज को निंदित करनेवाले हैं।"

आनंदमोहन—'इस विषय को छोड़ो। यह तो बताओ कि इस समय क्या-क्या खिलाओगे। मित्र नहीं; तो मित्र की चर्चा ही हो।"

दयाशंकर—'यह तो सेवती की पाक-कला-कुशलता पर निर्भर है। पूरियाँ और कचौरियाँ तो होंगी ही। यथासंभव ख़ूब खरी भी होंगी, यथाशक्ति ख़स्ते और समोसे भी आएँगे। खीर आदि के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है। आलू-गोभी की शोरबेदार तरकारी और मटर-दालमोट भी मिलेंगे। फ़ीरिनी के लिये भी कह आया था। गूलर के कोफ़ते और आलू के कबाब—ये दोनो सेवती ख़ूब पकाती है। इनके सिवा दही-बड़े और चटनी-अचार की चर्चा तो व्यर्थ ही है। हाँ, शायद किशमिश का रायता भी मिले, जिसमें केसर की सुगंध उड़ती होगी।"

आनंदमोहन—"मित्र, मेरे मुँह में तो पानी भर आया। तुम्हारी बातों ने तो मेरे पैरों में जान डाल दी। शायद पर होते, तो उड़कर पहुँच जाता।"

दयाशंकर—"लो, अब आ ही जाते हैं। यह तंबाकूवाले की दूकान है, इसके बाद चौथा मकान अपना ही है।"

आनंदमोहन—"मेरे साथ बैठकर एक ही थाली में खाना। कहीं ऐसा न हो कि अधिक खाने के लिये मुझे भाभीजी के सामने लज्जित होना पड़े।"

दयाशंकर—इससे तुम निश्शंक रहो। उन्हें मिताहारी आदमी से चिढ़ है। वह कहती हैं—'जो खायगा ही नहीं, वह दुनिया में काम क्या करेगा।' आज शायद तुम्हारी बदौलत मुझे भी काम करनेवालों की पंक्ति में स्थान मिल जाय। कम-से-कम कोशिश तो ऐसी ही करना।"

आनंदमोहन—"भाई, यथाशक्ति चेष्टा करूँगा। शायद तुम्हें ही प्रधान-पद मिल जाय।"

दयाशंकर—"यह लो, आ गए। देखना, सीढ़ियों पर अँधेरा है। शायद चिराग़ जलाना भूल गई।"

आनंदमोहन—"कोई हर्ज नहीं। तिमिर-लोक ही में तो सिकंदर को अमृत मिला था।"

दयाशंकर—"अंतर इतना ही है कि तिमिर-लोक में पैर फिसले, तो पानी में गिरोगे, और यहाँ फिसले, तो पथरीली सड़क पर।"

[ज्योतिस्वरूप आते हैं।]

ज्योतिस्वरूप—"सेवक भी उपस्थित हो गया। देर तो नहीं हुई? डबल मार्च करता आया हूँ।"

दयाशंकर—"नहीं, अभी तो देर नहीं हुई। शायद आपकी भोजनाभिलाषा आपको समय से पहले खींच लाई।"

आनंदमोहन—"आपका परिचय कराइए। मुझे आपसे देखादेखी नहीं है।"

दयाशंकर—(अँगरेज़ी में) "मेरे सुदूर के संबंध में साले होते हैं। एक वकील के मुहर्रिर हैं। ज़बर्दस्ती नाता जोड़ रहे हैं। सेवती ने निमंत्रण दिया होगा। मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं। यह अँगरेज़ी नहीं जानते।"

आनंदमोहन—"इतना तो अच्छा है। अँगरेज़ी में ही बातें करेंगे।

दयाशंकर—"सारा मज़ा किरकिरा हो गया। कुमानुषों के साथ बैठकर खाना, फोड़े का ऑपरेशन कराने के बराबर है।"

आनंदमोहन—"किसी उपाय से इन्हें बिदा कर देना चाहिए।"

दयाशंकर—"मुझे तो चिंता यह है कि अब संसार के कार्य-कर्ताओं में हमारी और तुम्हारी गणना ही न होगी। पाला इसी के हाथ रहेगा।"

आनंदमोहन—"ख़ैर ऊपर चलो। आनंद तो तब आवे, जब इन महाशय को आधे पेट ही उठना पड़े।"

[तीनो आदमी ऊपर जाते हैं]

दयाशंकर—"अरे! कमरे में भी रोशनी नहीं, अँधेरा घुप है। लाला ज्योतिस्वरूप, देखिएगा, कहीं ठोकर खाकर न गिर पड़िएगा।"

आनंदमोहन—"अरे ग़ज़ब......"

[अलमारी से टकराकर धम् से गिर पड़ता है।]

दयाशंकर—"लाला ज्योतिस्वरूप, क्या आप गिर पड़े! चोट तो नहीं आई?"

आनंदमोहन—"अजी, मैं गिर पड़ा। कमर टूट गई। तुमने अच्छी दावत की।"

दयाशंकर—"भले आदमी, सैकड़ों बार तो आए हो। मालूम नहीं था कि सामने अलमारी रक्खी हुई है? क्या ज़्यादा चोट लगी?"

आनंदमोहन—"भीतर जाओ। थालियाँ लाओ, और भाभीजी से कह देना कि थोड़ा-सा तेल गर्म कर लें। मालिश कर लूँगा।"

ज्योतिस्वरूप—"महाशय, यह आपने क्या रख छोड़ा है। ज़मीन पर गिर पड़ा।"

दयाशंकर—उगालदान तो नहीं लुढ़का दिया। हाँ, वही तो है। सारा फ़र्श ख़राब हो गया।"

आनंदमोहन—"बंधुवर, जाकर लालटेन जला लाओ। कहाँ लाकर कालकोठरी में डाल दिया।"

दयाशंकर (घर में जाकर) "अरे! यहाँ भी तो अँधेरा है! चिराग़ तक नहीं। सेवती, कहाँ हो?"

सेवती—"बैठी तो हूँ।"

दयाशंकर—"यह बात क्या है? चिराग़ क्यों नहीं जले? तबियत तो अच्छी है?"

सेवती—"बहुत अच्छी है। वा रे तुम, आ तो गए। मैंने समझा था कि आज आपका दर्शन ही न होगा।"

दयाशंकर—"ज्वर है क्या? कब से आया है?"

सेवती—"नहीं, ज्वर-स्वर कुछ नहीं। चैन से बैठी हूँ।"

दयाशंकर—"तुम्हारा पुराना वायुगोला तो नहीं उभर आया?"

सेवती—(व्यंग्य से) "हाँ, वायुगोला ही है। लाओ, कोई दवा है?"

दयाशंकर—"अभी डॉक्टर के यहाँ से मँगवाता हूँ।"

सेवती—"कुछ मुफ़्त की रक़म हाथ आ गई है क्या? लाओ, मुझे दे दो, अच्छी हो जाऊँ।"

दयाशंकर—"तुम तो हँसी कर रही हो। साफ़-साफ़ कोई बात नहीं कहतीं। क्या मेरे देर से आने का यही दंड है? मैंने नौ बजे आने का वचन दिया था। शायद दो-चार मिनट अधिक हुए हों। सब चीज़ें तैयार हैं न?"

सेवती—"हाँ, बहुत ही ख़स्ता। आधोआध मक्खन डाला था।"

दयाशंकर—"आनंदमोहन से मैंने तुम्हारी ख़ूब प्रशंसा की है।"

सेवती—"ईश्वर ने चाहा, तो वह भी प्रशंसा ही करेंगे। पानी रख आओ, हाथ-वाथ तो धोवें।

दयाशंकर—"चटनियाँ भी बनवा ली हैं न? आनंदमोहन को चटनियों से बहुत प्रेम है।"

सेवती—"ख़ूब चटनी खिलाओ। सेरों बना रक्खी है।"

दयाशंकर—"पानी में केवड़ा डाल दिया है?"

सेवती—"हाँ, ले जाकर पानी रख आओ। पीना आरंभ करें, प्यास लगी होगी।"

आनंदमोहन—(बाहर से) "मित्र, शीघ्र आओ। अब इंतज़ार करने की शक्ति नहीं है।"

दयाशंकर—"जल्दी मचा रहा है। लाओ थालियाँ परसो।"

सेवती—"पहले चटनी और पानी तो रख आओ।"

दयाशंकर—(रसोई में जाकर) "अरे! यहाँ तो चूल्हा बिलकुल ठंडा पड़ गया है। महरी आज सवेरे ही काम कर गई क्या?"

सेवती—"हाँ, खाना पकने से पहले ही आ गई थी।"

दयाशंकर—"बरतन सब मँजे हुए रक्खे हैं। क्या कुछ पकाया ही नहीं?"

सेवती—"भूत-प्रेत आकर खा गए होंगे।"

दयाशंकर—"क्या चूल्हा ही नहीं जलाया? ग़ज़ब कर दिया।"

सेवती—"ग़ज़ब मैंने कर दिया, या तुमने?"

दयाशंकर—"मैंने तो सब सामान लाकर रख दिया। तुमसे बार-बार पूछ लिया था कि किसी चीज़ की कमी हो, तो बतलाओ; फिर खाना क्यों न पका? क्या विचित्र रहस्य है! भला मैं इन दोनो को क्या मुँह दिखाऊँगा।"

आनंदमोहन—"मित्र, क्या तुम अकेले ही सब सामग्री चट कर रहे हो? इधर भी लोग आशा लगाए बैठे हैं। इंतज़ार दम तोड़ रहा है।"

सेवती—"यदि सब सामग्री लाकर रख ही देते, तो मुझे बनाने में क्या आपत्ति थी।"

दयाशंकर—"अच्छा, यदि दो-एक वस्तुओं की कमी ही रह गई थी, तो इसका क्या यह अभिप्राय है कि चूल्हा ही न जले। यह तो तुमने किसी अपराध का दंड दिया है। आज होली का दिन, और यहाँ आग ही न जली!"

सेवती—"जब तक ऐसे चरके न खाओगे, तुम्हारी आँखें न खुलेंगी।"

दयाशंकर—"तुम तो पहेलियों में बातें कर रही हो। आख़िर किस बात पर अप्रसन्न हो? मैंने कौन-सा अपराध किया है? जब

मैं यहाँ से जाने लगा था—तब तुम प्रसन्न-मुख थीं; इसके पहले भी मैंने तुम्हें दुखी नहीं देखा था। तो मेरी अनुपस्थिति में कौन ऐसी बात हो गई कि तुम इतनी रूठ गईं?"

सेवती—"घर में स्त्रियों को क़ैद करने का यह दंड है।"

दयाशंकर—"अच्छा, तो यह इस अपराध का दंड है? मगर तुमने मुझसे परदे की निंदा नहीं की; बल्कि इस विषय पर जब कोई बात छिड़ती, तब तुम मेरे ही विचारों से सहमत रहती थीं। मुझे आज ही ज्ञात हुआ है कि तुम्हें परदे से इतनी घृणा है। क्या दोनो अतिथियों से यह कर दूँ कि परदे की सहायता के दंड में मेरे यहाँ अनशन-व्रत है। आप लोग ठंडी-ठंडी हवा खाएँ।"

सेवती—"जो चीज़ें तैयार हैं, उन्हें जाकर खिलाओ; जो नहीं हैं, उसके लिये क्षमा माँगो।"

दयाशंकर—"मैं तो कोई चीज़ तैयार नहीं देखता।"

सेवती—"है क्यों नहीं। चटनी बना ही डाली है, और पानी भी पहले से तैयार है।"

दयाशंकर—"यह दिल्लगी तो हो चुकी। सचमुच बतलाओ, खाना क्यों नहीं पकाया। क्या तबियत ख़राब हो गई थी, अथवा किसी कुत्ते ने आकर रसोई अपवित्र कर दी?"

आनंदमोहन—"बाहर क्यों नहीं आते हो भाई, भीतर-ही-भीतर क्या मिसकौट कर रहे हो? अगर सब चीज़ें नहीं तैयार हैं, तो न सही। जो कुछ तैयार हो, वही लाओ। इस समय तो सादी पूरियाँ भी ख़स्ते से अधिक स्वादिष्ट जान पड़ेंगी। कुछ लाओ तो, भला श्रीगणेश तो हो। मुझसे अधिक उत्सुक मेरे मित्र मुंशी ज्योतिस्वरूप हैं।"

सेवती—"भैया ने दावत के इंतज़ार में आज दोपहर को भी खाना न खाया होगा।"

दयाशंकर—"बात क्यों टालती हो; मेरी बातों का जवाब क्यों नहीं देतीं ?"

सेवती—"नहीं जवाब देती, क्या कुछ आपका क़र्ज़ खाया है, या रसोई बनाने के लिये लौंडी हूँ ?"

दयाशंकर—"यदि मैं घर का काम करके अपने को दास नहीं समझता, तो तुम घर का काम करके अपने को दासी क्यों समझती हो !"

सेवती—"मैं नहीं समझती, तुम समझते हो।"

दयाशंकर—"क्रोध मुझे आना चाहिए, उलटे तुम बिगड़ रही हो।"

सेवती—"तुम्हें क्यों मुझ पर क्रोध आना चाहिए ? इसलिये कि तुम पुरुष हो ?"

दयाशंकर—"नहीं, इसलिये कि तुमने आज मुझे मेरे मित्रों तथा संबंधियों के सम्मुख नीचा दिखाया।"

सेवती—"नीचा दिखाया तुमने मुझे, या मैंने तुम्हें ? तुम तो किसी प्रकार क्षमा करा लोगे, किंतु कालिमा तो मेरे मुख लगेगी।"

आनंदमोहन—"भई अपराध क्षमा हो, मैं भी वहीं आता हूँ। यहाँ तो किसी पदार्थ की सुगंध तक नहीं आती।"

दयाशंकर—"क्षमा क्या करा लूँगा, लाचार होकर बहाना करना पड़ेगा।"

सेवती—"चटनी खिलाकर पानी पिलाओ। इतना सत्कार बहुत है। होली का दिन है, यह भी एक प्रहसन रहेगा।"

दयाशंकर—"प्रहसन क्या रहेगा, कहीं मुख दिखाने-योग्य न रहूँगा। आख़िर तुम्हें यह क्या शरारत सूझी।"

सेवती—"फिर वही बात ? शरारत क्यों सूझती ? क्या तुमसे और तुम्हारे मित्रों से कोई बदला लेना था ? लेकिन जब लाचार

हो गई, तब क्या करती। तुम तो दस मिनट पछताकर, और मुझ पर अपना क्रोध मिटा-कर आनंद से सोओगे। यहाँ तो मैं तीन बजे से बैठी झींख रही हूँ। यह सब तुम्हारी करतूत है।"

दयाशंकर—"यही तो पूछता हूँ कि मैंने क्या किया ?"

सेवती—"तुमने मुझे पिंजरे में बंद कर दिया, पर काट दिए! मेरे सामने दाना रख दो, तो खाऊँ; घुँघिया में पानी डाल दो, तो पीऊँ, यह किसका क़ुसूर है ?"

दयाशंकर—"भाई, छिपी-छिपी बातें न करो। साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहतीं ?"

आनंदमोहन—"बिदा होता हूँ; मौज उड़ाए। नहीं, बाज़ार की दूकानें भी बंद हो जायँगी। ख़ूब चकमा दिया, मित्र; फिर समझेंगे। लाला ज्योतिस्वरूप तो बैठे-बैठे अपनी निराशा को ख़र्राटों से भुला रहे हैं। मुझे यह संतोष कहाँ! तारे भी नहीं हैं कि बैठ-कर इन्हें ही गिनूँ। इस समय तो स्वादिष्ट पदार्थों का स्मरण कर रहा हूँ।"

दयाशंकर—"बंधुवर, दो मिनट और संतोष करो। आया। हाँ, लाला ज्योतिस्वरूप से कह दो कि किसी हलवाई की दूकान से पूरियाँ ले आएँ। यहाँ कम पड़ गई हैं। आज दोपहर ही से इनकी तबियत ख़राब हो गई है। मेरी मेज़ की दराज़ में रुपए रक्खे हुए हैं।"

सेवती—"साफ़-साफ़ तो यही है कि तुम्हारे परदे ने मुझे पंगुल बना दिया है। कोई मेरा गला भी घोंट जाय, तो फ़रियाद नहीं कर सकती।"

दयाशंकर—"फिर भी वही अन्योक्ति! इस विषय का अंत भी होगा या नहीं।"

सेवती—"दियासलाई तो थी ही नहीं, फिर आग कैसे जलाती!"

दयाशंकर—"अहा ! मैंने जाते समय दियासलाई की डिबिया जेब में रख ली थी...ज़रा-सी बात का तुमने इतना बतंगड़ बना दिया। शायद मुझे तंग करने के लिये अवसर ढूँढ़ रही थीं। कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है।"

सेवती—"यह तुम्हारी ज़्यादती है। ज्यों ही तुम सीढ़ी से उतरे, मेरी दृष्टि डिबिया पर पड़ गई, किंतु वह लापता थी। ताड़ गई कि तुम ले गए। तुम मुशकिल से दरवाज़े तक पहुँचे होगे। अगर ज़ोर से पुकारती, तो तुम सुन लेते। लेकिन नीचे दूकानदारों के कान में भी आवाज़ जाती, तो सुनकर तुम न-जाने मेरी कौन-कौन दुर्दशा करते। हाथ मलकर रह गई। उसी समय से बहुत व्याकुल हो रही हूँ कि किसी प्रकार भी दियासलाई मिल जाती, तो अच्छा होता। मगर कोई वश न चला। अंत में लाचार होकर बैठ रही।"

दयाशंकर—"यह कहो कि तुम मुझे तंग करना चाहती थीं। नहीं तो, क्या आग या दियासलाई न मिल जाती?"

सेवती—"अच्छा, तुम मेरी जगह होते, तो क्या करते? नीचे सब-के-सब दूकानदार और तुम्हारी जान-पहचान के हैं। घर के एक ओर पंडितजी रहते हैं। इनके घर में कोई स्त्री नहीं। सारे दिन फाग हुई है, बाहर के सैकड़ों आदमी जमा थे; दूसरी ओर बंगाली बाबू रहते हैं। उनके घर की स्त्रियाँ किसी संबंधी से मिलने गई हैं, और अब तक नहीं आईं। इन दोनो घरों से भी विना छज्जे पर आए चीज़ न मिल सकती थी। लेकिन शायद तुम इतनी बेपर्दगी को क्षमा न करते। और कौन ऐसा था, जिससे कहती कि कहीं से आग ला दो। महरी तुम्हारे सामने ही चौका-बरतन करके चली गई थी। रह-रहकर तुम्हारे ही ऊपर क्रोध आता था।"

दयाशंकर—"तुम्हारी लाचारी का कुछ अनुमान कर सकता हूँ,

पर मुझे अब भी यह मानने में आपत्ति है कि दियासलाई का न होना चूल्हा न जलने का वास्तविक कारण हो सकता है।"

सेवती—"तुम्हीं से पूछती हूँ कि बतलाओ क्या करती ?"

दयाशंकर—"मेरा मन इस समय स्थिर नहीं है, किंतु मुझे विश्वास है कि यदि मैं तुम्हारे स्थान पर होता, तो होली के दिन और ख़ासकर जब अतिथि भी उपस्थित हों, चूल्हा ठंडा न रहता। कोई-न-कोई उपाय अवश्य ही निकालता।"

सेवती—"जैसे ?"

दयाशंकर—"एक रुक़्क़ा लिखकर किसी दूकानदार के सामने फेंक देता।"

सेवती—"यदि मैं ऐसा करती, तो शायद तुम आँख मिलाने का कलंक मुझ पर लगाते।"

दयाशंकर—"अँधेरा हो जाने पर सिर से पैर तक चादर ओढ़कर बाहर निकल जाता, और दियासलाई ले आता। घंटे-दो-घंटे में अवश्य ही कुछ-न-कुछ तैयार हो जाता। ऐसा उपवास तो न करना पड़ता।"

सेवती—"बाज़ार जाने से मुझे तुम गली-गली घूमनेवाली कहते, और गला काटने पर उतारू हो जाते। तुमने मुझे कभी भी इतनी स्वतंत्रता नहीं दी। यदि कभी स्नान करने जाती हूँ, तो गाड़ी का पट बंद रहता है।"

दयाशंकर—"अच्छा, तुम जीतीं और मैं हारा। यह सदैव के लिये उपदेश मिल गया कि ऐसे अत्यावश्यक समय पर तुम्हें घर से बाहर निकलने की स्वतंत्रता है।"

सेवती—"मैं तो इसे आकस्मिक समय नहीं कहती। आकस्मिक समय तो वह है कि दैवात् घर में कोई बीमार हो जाय, और उसे डॉक्टर के यहाँ ले जाना आवश्यक हो।"

दयाशंकर—"निस्संदेह वह समय आकस्मिक है। उस दशा में तुम्हारे जाने में कोई हस्तक्षेप नहीं।"

सेवती—"और भी आकस्मिक समय गिनाऊँ ?"

दयाशंकर—"नहीं, भाई, इसका फ़ैसला तुम्हारी बुद्धि पर निर्भर है।"

आनंदमोहन—"मित्र, संतोष की सीमा तो हो गई ; अब प्राण-पीड़ा हो रही है। ईश्वर करे, घर आबाद रहे ; बिदा होता हूँ।"

दयाशंकर—"बस, एक मिनट और। उपस्थित हुआ।"

सेवती—"चटनी, और पानी लेते जाओ, और पूरियाँ बाज़ार से मँगवा लो। इसके सिवा इस समय हो ही क्या सकता है।"

दयाशंकर—(मरदाने कमरे में आकर) "पानी लाया हूँ, प्यालियों में चटनी है, आप लोग जब तक भोग लगाएँ। मैं अभी आता हूँ।"

आनंदमोहन—"धन्य है ईश्वर ! भला तुम बाहर तो निकले। मैंने तो समझा था कि एकांत-वास करने लगे, मगर निकले भी तो चटनियाँ लेकर। वे स्वादिष्ट वस्तुएँ क्या हुईं, जिनका आपने वादा किया था, और जिनका स्मरण मैं प्रेमानुरक्त भाव से कर रहा हूँ।"

दयाशंकर—"ज्योतिस्वरूप कहाँ गए ?"

आनंदमोहन—"उर्ध्व संसार में भ्रमण कर रहे हैं। बड़ा ही अद्भुत, उदासीन मनुष्य है कि आते-ही-आते सो गया, और अभी तक नहीं चौंका।"

दयाशंकर—"मेरे यहाँ एक दुर्घटना हो गई। उसे और क्या कहूँ। सब सामान मौजूद, और चूल्हे में आग न जली।"

आनंदमोहन—"ख़ूब ! यह एक ही रही। लकड़ियाँ न रही होंगी।"

सेवती—"घर में तो लकड़ियों का पहाड़ लगा है। अभी थोड़े ही दिन हुए, गाँव से एक गाड़ी लकड़ी आ गई थी। दियासलाई न थी।"

आनंदमोहन—(अट्टहास कर) "वाह ! यह अच्छा प्रहसन

हुआ। थोड़ी-सी भूल ने सारा स्वप्न ही नष्ट कर दिया। कम-से-कम मेरी तो बधिया बैठ गई।"

दयाशंकर—"क्या कहूँ मित्र, अत्यंत लज्जित हूँ। तुमसे सत्य कहता हूँ। आज से मैं परदे का शत्रु हो गया। इस निगोड़ी प्रथा के बंधन ने ठीक होली के दिन ऐसा अनर्थ किया, जिसकी कभी संभावना न थी। अच्छा, अब बतलाओ बाज़ार से लाऊँ पूरियाँ। अभी तो ताज़ी मिल जायँगी।"

आनंदमोहन—"बाज़ार का रास्ता तो मैंने भी देखा है। कष्ट न करो, जाकर बोर्डिंग-हाउस में खा लूँगा। रहे यह महाशय, मेरे विचार में तो इन्हें छेड़ना ठीक नहीं, पड़े-पड़े ख़र्राटे लेने दो। प्रातःकाल चौंकेंगे, तो घर का मार्ग पकड़ेंगे।"

दयाशंकर—"तुम्हारा यों वापस जाना मुझे खल रहा है। क्या सोचा था, क्या हुआ। मज़े ले-लेकर समोसे और कोफ़्ते खाते, और गपड़चौथ मचाते। सभी आशाएँ मिट्टी में मिल गईं। ईश्वर ने चाहा, तो शीघ्र इसका प्रायश्चित्त करूँगा।"

आनंदमोहन—"मुझे तो इस बात की प्रसन्नता है कि तुम्हारा सिद्धांत टूट गया। अब इतनी आज्ञा दो कि भाभीजी को धन्यवाद दे आऊँ।"

दयाशंकर—"शौक़ से जाओ।"

आनंदमोहन—(भीतर जाकर) "भाभीजी को साष्टांग प्रणाम कर रहा हूँ। यद्यपि आज के आकाशी भोज से मुझे दुराशा तो अवश्य हुई, किंतु वह उस आनंद के सामने शून्य है, जो भाई साहब के विचार-परिवर्तन से हुआ है। आज एक दियासलाई ने जो शिक्षा प्रदान की है, वह लाखों प्रामाणिक प्रमाणों से भी संभव नहीं है। इसके लिये मैं आपको सहर्ष धन्यवाद देता हूँ। अब से बंधुवर परदे के पक्षपाती न होंगे, यह मेरा अटल विश्वास है।"

[पटाक्षेप]

गृह-दाह

(१)

सत्यप्रकाश के जन्मोत्सव में लाला देवप्रकाश ने बहुत रुपए ख़र्च किए थे। उसका विद्यारंभ-संस्कार भी ख़ूब धूम-धाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी-सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता। एक नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता; दिन-भर वहीं बैठा रहता और उसे साथ लेकर घर आता था। कितना सुशील, होनहार बालक था! गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा मस्तक, पतले-पतले, लाल अधर, भरे हुए हाथ-पाँव। उसे देखकर सहसा मुँह से निकल पड़ता था—भगवान् इसे जिला दे, प्रतापी मनुष्य होगा। उसकी बाल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुख-चंद्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश बहन को लेकर गंगा-स्नान करने गए। नदी ख़ूब चढ़ी हुई थी, मानो अनाथ की आँखें हों। उनकी पत्नी निर्मला जल में बैठकर क्रीड़ा करने लगी। कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती, कभी डुबकी मारती, कभी अंजुलियों से छींटें उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—"अच्छा, अब निकलो, नहीं तो सरदी हो जायगी।"

निर्मला ने कहा—"कहो, तो मैं छाती तक पानी में चली जाऊँ?"

देवप्रकाश—"और, जो कहीं पैर फिसल जाय!"

निर्मला—"पैर क्या फिसलेगा!"

यह कहकर वह छाती तक पानी में चली गई। पति ने कहा—"अच्छा, अब आगे पैर न रखना।" किंतु निर्मला के सिर पर

मौत खेल रही थी। यह जल-क्रीड़ा नहीं---मृत्यु-क्रीड़ा थी। उसने एक पग और आगे बढ़ाया, और फिसल गई। मुँह से एक चीख़ निकली; दोनो हाथ सहारे के लिये ऊपर उठे, और फिर जल-मग्न हो गए; एक पल में प्यासी नदी उसे पी गई। देवप्रकाश खड़े तौलिए से देह पोंछ रहे थे। तुरंत पानी में कूदे, साथ का कहार भी कूदा। दो मल्लाह भी कूद पड़े। सबने डुबकियाँ मारीं, टटोला; पर निर्मला का पता न चला। तब डोंगी मँगवाई गई। मल्लाहों ने बार-बार गोते मारे; पर लाश हाथ न आई। देवप्रकाश शोक में डूबे हुए घर आए। सत्यप्रकाश किसी उपहार की आशा में दौड़ा। पिता ने गोद में उठा लिया, और बड़े यत्न करने पर भी अपनी सिसकी न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—"अम्मा कहाँ हैं ?"

देवप्रकाश—"बेटा, गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिये रोक लिया।"

सत्यप्रकाश ने उनके मुख की ओर जिज्ञासा-भाव से देखा, और आशय समझ गया। अम्मा, अम्मा कहकर रोने लगा।

(२)

मातृ-हीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। दीन-से-दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को सँभालता रहता है। मातृ-हीन बालक इस आधार से भी वंचित होता है। माता ही उसके जीवन का एकमात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंख-हीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकांत से प्रेम हो गया। अकेले बैठा रहता। वृक्षों में उसे उस सहानुभूति का कुछ-कुछ अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों में उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे; माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गए। पिता की आँखों में भी वह प्रेम-ज्योति न रही। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है ?

छः महीने बीत गए। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ, मेरी नई माता आनेवाली है। दौड़ा पिता के पास गया, और पूछा—"क्या मेरी नई माता आएँगी?" पिता ने कहा—"हाँ, बेटा, वह आकर तुम्हें प्यार करेंगी।"

सत्यप्रकाश—"क्या मेरी मा स्वर्ग से आ जायँगी?"

देवप्रकाश—"हाँ, वही आ जायँगी।"

सत्यप्रकाश—"मुझे उसी तरह प्यार करेंगी?"

देवप्रकाश इसका क्या उत्तर देते? मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्न-मन रहने लगा। अम्मा आएँगी! मुझे गोद में लेकर प्यार करेंगी! अब मैं उन्हें कभी दिक़ न करूँगा, कभी ज़िद न करूँगा, अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाया करूँगा।

विवाह के दिन आए। घर में तैयारियाँ होने लगीं। सत्यप्रकाश ख़ुशी से फूला न समाता। मेरी नई अम्मा आएँगी। बरात में वह भी गया। नए-नए कपड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अंदर बुलाया, और उसे गोद में लेकर एक अशरफ़ी दी। वहीं उसे नई माता के दर्शन हुए। नानी ने नई माता से कहा—"बेटी, कैसा सुंदर बालक है! इसे प्यार करना।"

सत्यप्रकाश ने नई माता को देखा, और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषणों से लदी सामने खड़ी थी। उसने दोनो हाथों से उसका अंचल पकड़कर कहा—"अम्मा!"

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जायुक्त, कितना अप्रिय! वह ललना, जो 'देवप्रिया' नाम से संबोधित होती थी, उत्तर-दायित्व, त्याग और क्षमा का संबोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुख-स्वप्न देख रही थी—यौवन-काल की मदमय वायु-तरंगों में आंदोलित हो रही थी। इस शब्द

ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—"मुझे अम्मा मत कहो।"

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उसका बाल-स्वप्न भंग हो गया। आँखें डबडबा गईं। नानी ने कहा—"बेटी, देखो, लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिए। अम्मा कह दिया, तो तुम्हें कौन-सी चोट लग गई?"

देवप्रिया ने कहा—"मुझे अम्मा न कहे।"

(३)

सौत का पुत्र विमाता की आँखों में क्यों इतना खटकता है। इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पंडित ने नहीं किया। हमें किसी गिनती में हैं। देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें करती, कहानियाँ सुनाती; किंतु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गया। प्रसव-काल ज्यों-ज्यों निकट आता था, उसकी कठोरता बढ़ती ही जाती थी। जिस दिन उसकी गोद में एक चाँद-से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रकाश ख़ूब उछला-कूदा, और सौर-गृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने गया। बच्चा देवप्रिया की गोद में सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे को विमाता की गोद से उठाना चाहा कि सहसा देवप्रिया ने सरोष स्वर में कहा—"ख़बरदार, इसे मत छूना, नहीं तो कान पकड़कर उखाड़ लूँगी।"

बालक उलटे पाँव लौट आया, और कोठे की छत पर जाकर ख़ूब रोया। कितना सुंदर बच्चा है! मैं उसे गोद में लेकर बैठता, तो कैसा मज़ा आता! मैं उसे गिराता थोड़े ही, फिर इन्होंने मुझे झिड़क क्यों दिया? भोला बालक क्या जानता था कि इस झिड़की का कारण माता की सावधानी नहीं, कुछ और है।

शिशु का नाम ज्ञानप्रकाश रक्खा गया था। एक दिन वह सो

रहा था। देवप्रिया स्नानागार में थी। सत्यप्रकाश चुपके से आया, और बच्चे का ओढ़ना हटाकर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा कि उसे गोद में लेकर प्यार करूँ; पर डर के मारे उसने उसे उठाया नहीं, केवल उसके कपोलों को चूमने लगा। इतने में देवप्रिया निकल आई। सत्यप्रकाश को बच्चे को चूमते देखकर आग हो गई। दूर ही से डाँटा—"हट जा वहाँ से!"

सत्यप्रकाश दीन नेत्रों से माता को देखता हुआ बाहर निकल आया।

संध्या-समय उसके पिता ने पूछा—"तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो!"

सत्यप्रकाश—"मैं तो उसे कभी नहीं रुलाता। अम्मा खेलाने नहीं देतीं।"

देवप्रकाश—"झूठ बोलते हो, आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी।"

सत्यप्रकाश—"जी नहीं, मैं तो उसकी मुच्छियाँ ले रहा था।"

देवप्रकाश—"झूठ बोलता है!"

सत्यप्रकाश—"मैं झूठ नहीं बोलता?"

देवप्रकाश को क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाए। पहली बार यह ताड़ना मिली, और निरपराध! इसने उसके जीवन की काया-पलट कर दी।

(४)

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह घर में बहुत कम आता। पिता आते, तो उनसे मुँह छिपाता फिरता। कोई खाना खाने को बुलाने आता, तो चोरों की भाँति दबकता हुआ जाकर खा लेता; न कुछ माँगता, न कुछ बोलता। पहले अत्यंत कुशाग्रबुद्धि था। उसकी सफ़ाई, सलीक़े और फ़ुरती पर लोग मुग्ध हो जाते

थे। अब वह पढ़ने से जी चुराता, मैले-कुचैले कपड़े पहने रहता। घर में कोई प्रेम करनेवाला न था! बाज़ार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौवे लूटता। गालियाँ बकना भी सीख गया। शरीर दुर्बल हो गया। चेहरे की कांति ग़ायब हो गई। देव-प्रकाश को अब आएदिन उसकी शरारतों के उलहने मिलने लगे, और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियाँ और तमाचे खाने लगा, यहाँ तक कि अगर वह कभी घर में किसी काम से चला जाता, तो सब लोग दूर-दूर कहकर दौड़ते।

ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिये मास्टर आता था। देवप्रकाश उसे रोज़ सैर कराने साथ ले जाते। हँसमुख लड़का था। देवप्रिया उसे सत्यप्रकाश के साए से भी बचाती रहती थी। दोनो लड़कों में कितना अंतर था! एक साफ़-सुथरा, सुंदर कपड़े पहने, शील और विनय का पुतला, सच बोलनेवाला, देखनेवालों के मुँह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटखट, चोरों की तरह मुँह छिपाए हुए, मुँहफट, बात-बात पर गालियाँ बकनेवाला। एक हरा-भरा पौधा, प्रेम में प्लावित, स्नेह से सिंचित, दूसरा सूखा हुआ, टेढ़ा, पल्लव-हीन नववृक्ष, जिसकी जड़ों को एक मुद्दत से पानी नहीं नसीब हुआ। एक को देखकर पिता की छाती ठंडी होती; दूसरे को देखकर देह में आग लग जाती।

आश्चर्य यह था कि सत्यप्रकाश को अपने छोटे भाई से लेश-मात्र भी ईर्ष्या न थी। अगर उसके हृदय में कोई कोमल भाव शेष रह गया था, तो वह ज्ञानप्रकाश के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि में यही एक हरियाली थी। ईर्ष्या साम्य भाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश अपने भाई को अपने से कहीं ऊँचा, कहीं भाग्यशाली समझता। उसमें ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है, प्रेम से प्रेम। ज्ञानप्रकाश भी बड़े

भाई को चाहता था। कभी-कभी उसका पक्ष लेकर अपनी मा से वाद-विवाद कर बैठता। कहता, भैया की अचकन फट गई है; आप नई अचकन क्यों नहीं बनवा देतीं? मा उत्तर देती—उसके लिये वही अचकन अच्छी है। अभी क्या, अभी तो वह नंगा फिरेगा। ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था कि अपने जेब-ख़र्च से बचाकर कुछ अपने भाई को दे, पर सत्यप्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता। वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता, उतनी देर उसे एक शांतिमय आनंद का अनुभव होता। थोड़ी देर के लिये वह सद्भावों के साम्राज्य में विचरने लगता। उसके मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात न निकलती। एक क्षण के लिये उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठती।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया। पिता ने पूछा—"तुम आजकल पढ़ने क्यों नहीं जाते? क्या सोच रक्खा है कि मैंने तुम्हारी ज़िंदगी-भर का ठेका ले रक्खा है?"

सत्यप्रकाश—"मेरे ऊपर जुर्माने और फ़ीस के कई रुपए हो गए हैं। जाता हूँ; तो दरजे से निकाल दिया जाता हूँ।"

देवप्रकाश—"फ़ीस क्यों बाक़ी है? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते हो न?"

सत्यप्रकाश—"आए दिन चंदे लगा करते हैं। फ़ीस के रुपए चंदे में दे दिए।"

देवप्रकाश—"और जुर्माना क्यों हुआ?"

सत्यप्रकाश—"फ़ीस न देने के कारण।"

देवप्रकाश—"तुमने चंदा क्यों दिया?"

सत्यप्रकाश—"ज्ञानू ने चंदा, दिया, तो मैंने भी दिया।"

देवप्रकाश—"तुम ज्ञानू से जलते हो?"

सत्यप्रकाश—"मैं ज्ञानू से क्यों जलने लगा। यहाँ हम और वह

दो हैं; बाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे पास कुछ नहीं है।"

देवप्रकाश—"क्यों, यह कहते शर्म आती है?"

सत्यप्रकाश—"जी हाँ, आपकी बदनामी होगी।"

देवप्रकाश—"अच्छा, तो आप मेरी मान-रक्षा करते हैं! यह क्यों नहीं कहते कि पढ़ना अब मंज़ूर नहीं। मेरे पास इतना रुपिया नहीं कि तुम्हें एक-एक क्लास में तीन-तीन साल पढ़ाऊँ; ऊपर से तुम्हारे ख़र्च के लिये भी प्रतिमास कुछ दूँ। ज्ञानू तुमसे कितना छोटा है, लेकिन तुमसे एक ही दफ़ा नीचे है। तुम इस साल ज़रूर ही फ़ेल होओगे; वह ज़रूर ही पास होगा। अगले साल तुम्हारे साथ हो जायगा। तब तो तुम्हारे मुँह में कालिख लगेगी न?"

सत्यप्रकाश—"विद्या मेरे भाग्य ही में नहीं है।"

देवप्रकाश—"तुम्हारे भाग्य में क्या है?"

सत्यप्रकाश—"भीख माँगना।"

देवप्रकाश—"तो फिर भीख ही माँगो। मेरे घर से निकल जाओ।"

देवप्रिया भी आ गई। बोली—"शरमाता तो नहीं, और बातों का जवाब देता है।"

सत्यप्रकाश—"जिनके भाग्य में भीख माँगना होता है, वे ही बचपन में अनाथ हो जाते हैं।"

देवप्रिया—"ये जली-कटी बातें अब मुझसे न सही जायँगी। मैं ख़ून का घूँट पी-पीकर रह जाती हूँ।"

देवप्रकाश—"बेहया है। कल से इसका नाम कटवा दूँगा। भीख माँगनी है, तो भीख ही माँगो।"

(४)

दूसरे दिन सत्य प्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर दी। उसकी उम्र अब १६ साल की हो गई थी। इतनी बातें सुनने के

बाद उसे इस घर में रहना असह्य हो गया था। जब तक हाथ-पाँव न थे, किशोरावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना, निरादर, निठुरता, भर्त्सना सब कुछ सहकर घर में रहता रहा। अब हाथ-पाँव हो गए थे, इस बंधन में क्यों रहता ! आत्माभिमान आशा की भाँति चिरजीवी होता है।

गर्मी के दिन थे। दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थे। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बग़ल में दबाई; एक छोटा-सा बैग हाथ में लिया, और चाहता था कि चुपके-से बैठक से निकल जाय कि ज्ञानू आ गया, और उसे जाने को तैयार देखकर बोला—"कहाँ जाते हो, भैया ?"

सत्यप्रकाश—"जाता हूँ, कहीं नौकरी करूँगा।"

ज्ञानप्रकाश—"मैं जाकर अम्मा से कहे देता हूँ।"

सत्यप्रकाश—"तो फिर मैं तुमसे भी छिपाकर चला जाऊँगा।"

ज्ञानप्रकाश—"क्यों चले जाओगे ? तुम्हें मेरी ज़रा भी मुहब्बत नहीं ?"

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगाकर कहा—"तुम्हें छोड़कर जाने को जी तो नहीं चाहता, लेकिन जहाँ कोई पूछनेवाला नहीं, वहाँ पड़े रहना बेहयाई है। कहीं दस-पाँच की नौकरी कर लूँगा, और पेट पालता रहूँगा, और किस लायक़ हूँ ?"

ज्ञानप्रकाश—"तुमसे अम्मा क्यों इतना चिढ़ती हैं ? मुझे तुमसे मिलने को मना किया करती हैं।"

सत्यप्रकाश—"मेरे नसीब खोटे हैं, और क्या।"

ज्ञानप्रकाश—"तुम लिखने-पढ़ने में जी नहीं लगाते ?"

सत्यप्रकाश—"लगता ही नहीं, कैसे लगाऊँ ? जब कोई परवा नहीं करता, तो मैं भी सोचता हूँ—उँह, यही न होगा, ठोकर खाऊँगा। बला से !"

ज्ञानप्रकाश—"मुझे भूल तो न जाओगे? मैं तुम्हारे पास ख़त लिखा करूँगा। मुझे भी एक बार अपने यहाँ बुलाना।"

सत्यप्रकाश—"तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूँगा।"

ज्ञानप्रकाश—(रोते-रोते) "मुझे न-जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है।"

सत्यप्रकाश—"मैं तुम्हें सदैव याद रक्खूँगा।"

यह कहकर उसने फिर भाई को गले से लगाया, और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी भी न थी, और वह कलकत्ते जा रहा था।

(६)

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुँचा, इसका वृत्तांत लिखना व्यर्थ है। युवकों में दुस्साहस की मात्रा अधिक होती है। वे हवा में क़िले बना सकते हैं—धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाइयों की उन्हें कुछ परवा नहीं होती। अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुँचना ऐसा कष्ट-साध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहले ही उसने निश्चय कर लिया था कि कलकत्ते में क्या करूँगा, कहाँ रहूँगा। उसके बैग में लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहरों में जीविका का प्रश्न कठिन भी है, और सरल भी। सरल है उनके लिये, जो हाथ से काम कर सकते हैं; कठिन है उनके लिये, जो क़लम से काम करते हैं। सत्यप्रकाश मज़दूरी करना नीच समझता था। उसने एक धर्मशाला में असबाब रक्खा। बाद में शहर के मुख्य-मुख्य स्थानों का निरीक्षण कर एक डाक-घर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया, और अपढ़ मज़दूरों की चिट्ठियाँ, मनी-ऑर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहले कई दिन तो उसको इतने पैसे भी न मिले कि भर-पेट भोजन करता, लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह

मज़दूरों से इतने विनय के साथ बातें करता, और उनके समाचार इतने विस्तार से लिखता कि बस, वे पत्र को सुनकर बहुत प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो-दो, तीन-तीन बार लिखते हैं। उनकी दशा ठीक रोगियों की-सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तांत कहते नहीं थकते। सत्य-प्रकाश सूत्र को व्याख्या का रूप देखकर मज़दूरों को मुग्ध कर देता था। एक संतुष्ट होकर जाता; तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने में उसे १) रोज़ मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकलकर शहर से बाहर ५) महीने पर एक छोटी-सी कोठरी ले ली। एक जून बनाता, दोनो जून खाता। बरतन अपने हाथों धोता। ज़मीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर ज़रा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी याद न आती। वह अपनी दशा पर संतुष्ट था। केवल ज्ञानप्रकाश को प्रेम-युक्त बातें न भूलतीं। अंधकार में यही एक प्रकाश था। बिदाई का अंतिम दृश्य आँखों के सामने फिरा करता। जीविका से निश्चित होकर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया। उसके आनंद की सीमा न रही। ज्ञानू मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है, स्वास्थ्य भी इच्छा नहीं है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है, वही तृप्ति इस पत्र से सत्यप्रकाश को हुई। मैं अकेला नहीं हूँ, कोई मुझे भी चाहता है—मुझे भी याद करता है।

उस दिन से सत्यप्रकाश को यह चिंता हुई कि ज्ञानू के लिये कोई उपहार भेजूँ। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं। सत्यप्रकाश की भी कई युवकों से मित्रता हो गई थी। उनके साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी-भंग, शराब-क़बाब की भी ठहरी। आईना, तेल, कंघी का शौक़ भी पैदा हुआ, जो कुछ पाता, उड़ा देता; बड़े वेग से नैतिक पतन और शारीरिक विनाश

की ओर दौड़ा चला जाता था। इस प्रेम-पत्र ने उसके पैर पकड़ लिए। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया। सिनेमा का चसका छूटा, मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा करने लगा। धन-संचय की चिंता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि एक अच्छी-सी घड़ी भेजूँ। उसका दाम कम-से-कम ४०) होगा। अगर तीन महीने तक एक कौड़ी का भी अपव्यय न करूँ, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देखकर कैसा ख़ुश होगा। अम्मा और बाबूजी भी देखेंगे। उन्हें मालूम हो जायगा कि मैं भूखों नहीं मर रहा हूँ। किफ़ायत की धुन में वह बहुधा दिया-बत्ती भी न करता। बड़े सबेरे काम करने चला जाता, और सारे दिन दो-चार पैसे की मिठाई खाकर काम करता रहता। उसके ग्राहकों की संख्या दिन-दूनी होती जाती थी। चिट्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उसने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो ही महीनों में उसके पास ४०) एकत्र हो गए; और जब घड़ी के साथ सुनहरी चेन का पारसल बनाकर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उसका चित्त इतना उत्साहित था, मानो किसी निस्संतान के बालक हुआ हो।

(७)

'घर' कितनी ही कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जाग्रत कर देता है। यह प्रेम का निवास-स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह वरदान पाया है।

किशोरावस्था में 'घर' माता-पिता, भाई-बहन, सखी-सहेली के प्रेम की याद दिलाता है; प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल-बच्चों के प्रेम की। यही वह लहर है, जो मानव-जीवन-मात्र को स्थिर रखती है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से

टकराने से बचाती है। यही वह मंडप है, जो जीवन की समस्त विघ्न बाधाओं से सुरक्षित रखता है।

सत्यप्रकाश का 'घर' कहाँ था? वह कौन-सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट् प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती थी?—माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बाल-बच्चों की चिंता?—नहीं, उसका रक्षक, उद्धारक, उसका पारितोषक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था। उसी के निमित्त वह एक-एक पैसे की किफ़ायत करता। उसी के लिये वह कठिन परिश्रम करता—धनोपार्जन के नए-नए उपाय सोचता। उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से मालूम हुआ था कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। वह एक घर बनवा रहे हैं, जिसमें व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है; इसलिये अब ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिये घर पर मास्टर नहीं आता। तब से सत्यप्रकाश प्रतिमास ज्ञानू के पास कुछ-न-कुछ अवश्य भेज देता था। वह अब केवल पत्र लेखक न था, लिखने के सामान की एक छोटी-सी दूकान भी उसने खोल ली थी। इससे अच्छी आमदनी हो जाती थी। इस तरह पाँच वर्ष बीत गए। रसिक मित्रों ने जब देखा कि अब यह हत्थे नहीं चढ़ता, तो उसके पास आना-जाना छोड़ दिया।

(८)

संध्या का समय था। देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञानप्रकाश के विवाह के संबंध में बातें कर रहे थे। ज्ञानू अब १७ वर्ष का सुंदर युवक था। बाल-विवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभ-मुहूर्त को न टाल सकते थे। विशेषतः जब कोई महाशय ५,०००) दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—"मैं तो तैयार हूँ, लेकिन तुम्हारा लड़का भी तो तैयार हो।"

देवप्रिया—"तुम बातचीत पक्की कर लो, वह तैयार हो ही जायगा। सभी लड़के पहले 'नहीं' करते हैं।"

देवप्रकाश—"ज्ञानू का इनकार केवल संकोच का इनकार नहीं है, वह सिद्धांत का इनकार है। वह साफ़-साफ़ कह रहा है कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मैं अपना विवाह करने पर राज़ी नहीं हूँ।"

देवप्रिया—"उसकी कौन चलाए, वहाँ कोई रखैल रख ली होगी, विवाह क्यों करेगा? वहाँ कोई देखने जाता है?"

देवप्रकाश—(झुँझलाकर) "रखैल रख ली होती, तो तुम्हारे लड़के को ४०) महीने न भेजता, और न वे चीज़ें ही देता, जिन्हें पहले महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न-जाने क्यों तुम्हारा मन उसकी ओर से इतना मैला हो गया है! चाहे वह जान निकाल कर भी दे दे, लेकिन तुम न पसीजोगी।"

देवप्रिया नाराज़ होकर चली गई। देवप्रकाश उससे यही कह-लाना चाहते थे कि पहले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है, किंतु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देव-प्रकाश की यह हार्दिक इच्छा थी कि पहले बड़े लड़के का विवाह करें, पर उन्होंने भी आज तक सत्यप्रकाश को कोई पत्र न लिखा था। देवप्रिया के चले जाने के बाद उन्होंने आज पहली बार सत्यप्रकाश को पत्र लिखा। पहले इतने दिनों तक चुपचाप रहने के लिये क्षमा माँगी, तब उसे एक बार घर आने का प्रेमा-ग्रह किया। लिखा, अब मैं कुछ ही दिनों का मेहमान हूँ। मेरी अभिलाषा है कि तुम्हारा और तुम्हारे छोटे भाई का विवाह देख लूँ। मुझे बहुत दुःख होगा, यदि तुम यह विनय स्वीकार न करोगे। ज्ञानप्रकाश के असमंजस की बात भी लिखी। अंत में इस

बात पर ज़ोर दिया कि किसी और विचार से नहीं, तो ज्ञानू के प्रेम के नाते ही तुम्हें इस बंधन में पड़ना होगा।

सत्यप्रकाश को यह पत्र मिला, तो उसे बहुत खेद हुआ। मेरे भ्रातृस्नेह का यह परिणाम होगा, मुझे यह न मालूम था। इसके साथ ही उसे ईर्ष्यामय आनंद हुआ कि अम्मा और दादा को अब तो कुछ मानसिक पीड़ा होगी। मेरी उन्हें क्या चिंता थी? मैं मर भी जाऊँ, तो भी उनकी आँखों में आँसू न आवें। ७ वर्ष हो गए, कभी भूलकर भी पत्र न लिखा कि मरा है, या जीता है। अब कुछ चेतावनी मिलेगी। ज्ञानप्रकाश अंत में विवाह करने पर राज़ी तो हो ही जायगा, लेकिन सहज में नहीं। कुछ न हो, तो मुझे तो एक बार अपने इनकार के कारण लिखने का अवसर मिला। ज्ञानू को मुझसे प्रेम है, लेकिन उसके कारण मैं पारिवारिक अन्याय का दोषी न बनूँगा। हमारा पारिवारिक जीवन संपूर्णतः अन्यायमय है। यह कुमति और वैमनस्य, क्रूरता और नृशंसता का बीजारोपण करता है। इसी माया में फँसकर मनुष्य अपनी प्यारी संतान का शत्रु हो जाता है। न, मैं आँखों देखकर यह मक्खी न निगलूँगा। मैं ज्ञानू को समझाऊँगा अवश्य। मेरे पास जो कुछ जमा है, वह सब उसके विवाह के निमित्त अर्पण भी कर दूँगा। बस, इससे ज़्यादा मैं और कुछ नहीं कर सकता। अगर ज्ञानू भी अविवाहित ही रहे, तो संसार कौन सूना हो जायगा? ऐसे पिता का पुत्र क्या वंश-परंपरा का पालन न करेगा? क्या उसके जीवन में फिर वही अभिनय न दुहराया जायगा, जिसने मेरा सर्वनाश कर दिया?

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने ५००) पिता के पास भेजे, और पत्र का उत्तर लिखा कि मेरा अहोभाग्य, जो आपने मुझे याद किया। ज्ञानू का विवाह निश्चित हो गया, इसकी बधाई! इन रुपयों से नववधू के लिये कोई आभूषण बनवा दीजिएगा। रही मेरे विवाह की बात,

सो मैंने अपनी आँखों से जो कुछ देखा, और मेरे सिर पर जो कुछ बीती है, उस पर ध्यान देते हुए यदि मैं कुटुंब-पास में फँसूँ, तो मुझसे बड़ा उल्लू संसार में न होगा। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। विवाह की चर्चा ही से मेरे हृदय को आघात पहुँचता है।

दूसरा पत्र ज्ञानप्रकाश को लिखा कि माता-पिता की आज्ञा शिरोधार्य करो। मैं अपढ़, मूर्ख, बुद्धि-हीन आदमी हूँ; मुझे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं। मैं तुम्हारे विवाह के शुभोत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा, लेकिन मेरे लिये इससे बढ़कर आनंद और संतोष का विषय नहीं हो सकता।

(९)

देवप्रकाश यह पढ़कर अवाक् रह गए। फिर आग्रह करने का साहस न हुआ। देवप्रिया ने नाक सिकोड़कर कहा—"यह लौंडा देखने ही को सीधा है, है ज़हर का बुझाया हुआ! सौ कोस पर बैठा हुआ बरछियों से कैसा छेद रहा है।"

किंतु ज्ञानप्रकाश ने यह पत्र पढ़ा, तो उसे मर्माघात पहुँचा। दादा और अम्मा के अन्याय ने ही उन्हें यह भीषण व्रत धारण करने पर बाध्य किया है। इन्हीं ने उन्हें निर्वासित किया है, और शायद सदा के लिये। न-जाने अम्मा को उनसे क्यों इतनी जलन हुई। मुझे तो अब याद आता है कि किशोरावस्था ही से वह बड़े आज्ञाकारी, विनयशील और गंभीर थे। उन्हें अम्मा की बातों का जवाब देते नहीं सुना। मैं अच्छे-से-अच्छा खाता था, फिर भी उनके तेवर मैले न हुए, हालाँकि उन्हें जलना चाहिए था। ऐसी दशा में अगर उन्हें गार्हस्थ्य-जीवन से घृणा हो गई, तो आश्चर्य ही क्या? फिर, मैं ही क्यों इस विपत्ति में फँसूँ? कौन जाने, मुझे भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़े। भैया ने बहुत सोच-समझकर यह धारणा की है।

संध्या-समय जब उसके माता-पिता बैठे हुए इसी समस्या पर विचार कर रहे थे, ज्ञानप्रकाश ने आकर कहा—"मैं कल भैया से मिलने जाऊँगा।"

देवप्रिया—"क्या कलकत्ते जाओगे?"

ज्ञानप्रकाश—"जी, हाँ।"

देवप्रिया—"उन्हीं को क्यों नहीं बुलाते?"

ज्ञानप्रकाश—"उन्हें कौन मुँह लेकर बुलाऊँ। आप लोगों ने तो पहले ही मेरे मुँह में कालिख लगा दी है। ऐसा देव-पुरुष आप लोगों के कारण विदेश में ठोकर खा रहा है, और मैं इतना निर्लज्ज हो जाऊँ कि......"

देवप्रिया—"अच्छा चुप रह, नहीं ब्याह करना है, न कर, जले पर लोन मत छिड़क! माता-पिता का धर्म है, इसलिये कहती हूँ, नहीं तो यहाँ ठेंगे को परवा नहीं है। तू चाहे ब्याह कर, चाहे क्वाँरा रह; पर मेरी आँखों से दूर हो जा।"

ज्ञानप्रकाश—"क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गई?"

देवप्रिया—"जब तू हमारे कहने ही में नहीं, तो जहाँ चाहे, रह। हम भी समझ लेंगे, भगवान् ने लड़का ही नहीं दिया।"

देवप्रकाश—"क्यों व्यर्थ ऐसे कटु वचन बोलती हो?"

ज्ञानप्रकाश—"अगर आप लोगों की यही इच्छा है, तो यही होगा।"

देवप्रकाश ने देखा कि बात का बतंगड़ हुआ चाहता है, तो ज्ञानप्रकाश को इशारे से टाल दिया, पत्नी के क्रोध को शांत करने की चेष्टा करने लगे। मगर देवप्रिया फूट-फूटकर रो रही थी, बार-बार कहती थी—"मैं इसकी सूरत न देखूँगी।" अंत में देवप्रकाश ने चिढ़कर कहा—"तो तुम्हीं ने कटु वचन कहकर उसे उत्तेजित कर दिया।"

देवप्रिया—"यह सब विष उसी चांडाल ने बोया है, जो यहाँ से सात समुद्र-पार बैठा हुआ मुझे मिट्टी में मिलाने का उपाय कर रहा है। मेरे बेटे को मुझसे छीनने ही के लिये उसने यह प्रेम का स्वाँग भरा है। मैं उसकी नस-नस पहचानती हूँ। उसका यह मंत्र मेरी जान लेकर छोड़ेगा; नहीं तो मेरा ज्ञानू, जिसने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया, यों मुझे न जलाता।"

देवप्रकाश—"अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा! अभी ग़ुस्से में अनाप-शनाप बक गया है। ज़रा शांत हो जायगा, तो मैं समझाकर राज़ी कर दूँगा।"

देवप्रिया—"मेरे हाथ से निकल गया।"

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली। देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया। कहा—"तुम्हारी माता इस शोक में मर जायगी;" किंतु कुछ असर न हुआ। उसने एक बार 'नहीं' कहकर 'हाँ' न की। निदान पिता भी निराश होकर बैठ रहे।

तीन साल तक प्रतिवर्ष विवाह के दिनों में यह प्रश्न उठता रहा, पर ज्ञानप्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। माता का रोना-धोना निष्फल हुआ। हाँ, उसने माता की एक बात मान ली—वह भाई से मिलने कलकत्ते न गया।

तीन साल में घर में बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया की तीनो कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर में उसके सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे खाए लेता था। जब वह नैराश्य और क्रोध से व्याकुल हो जाती, तो सत्यप्रकाश को ख़ूब जी-भर कोसती; मगर दोनो भाइयों में प्रेम-पत्र-व्यवहार बराबर होता रहता था।

देवप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेंशन ले ली थी, और प्रायः धर्म-ग्रंथों का अध्ययन किया करते

थे। ज्ञानप्रकाश ने भी 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त कर ली थी, और एक विद्यालय में अध्यापक हो गए थे। देवप्रिया अब संसार में अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिये नित्य टोने-टोटके किया करती। बिरादरी में कौन-सी कन्या सुंदर है, गुणवती है, सुशिक्षिता है—उसका बखान किया करती, पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों क सुनने की भी फ़ुरसत न थी।

मोहल्ले के और घरों में नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएँ आती थीं, उनकी गोद में बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलज़ार हो जाता था। कहीं बिदाई होती थी, कहीं बधाइयाँ आती थीं, कहीं गाना-बजाना होता था, कहीं बाजे बजते थे। यह चहल-पहल देखकर देवप्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मैं ही संसार में सबसे अभागिनी हूँ। मेरे ही भाग्य में यह सुख भोगना नहीं बदा है। भगवान् ऐसा भी कोई दिन आवेगा कि मैं अपनी बहू का मुख-चंद्र देखूँगी, बालकों को गोद में खिलाऊँगी। वह भी कोई दिन होगा कि मेरे घर में भी आनंदोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी! रात-दिन ये ही बातें सोचते-सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की-सी हो गई। आप-ही-आप सत्यप्रकाश को कोसने लगती—वही मेरे प्राणों का घातक है। तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है। तल्लीनता अत्यंत रचनाशील होती है। वह आकाश में देवताओं के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन में नमक तेज़ हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-कभी धोखा हो जाता कि सत्यप्रकाश घर में आ गया है, वह मुझे मारना चाहता है, ज्ञानप्रकाश को विष खिलाए देता है। एक दिन उसने सत्यप्रकाश के नाम एक पत्र लिखा, और उसमें जितना कोसते बना, कोसा—"तू मेरे प्राणों का वैरी है, मेरे कुल का घातक है, हत्यारा है। वह कौन दिन

आवेगा कि तेरी मिट्टी उठेगी। तूने मेरे लड़के पर वशीकरण-मंत्र चला दिया है।" दूसरे दिन फिर ऐसा ही एक पत्र लिखा, यहाँ तक कि वह उसका नित्य-कर्म हो गया। जब तक एक एक चिट्ठी में सत्यप्रकाश को गालियाँ न दे लेती, उसे चैन ही न आता! इन पत्रों को वह कहारिन के हाथ डाक-घर भिजवा दिया करती थी।

(१०)

ज्ञानप्रकाश का अध्यापक होना सत्यप्रकाश के लिये घातक हो गया। परदेश में उसे यही संतोष था कि मैं संसार में निराधार नहीं हूँ। अब यह अवलंब भी जाता रहा। ज्ञानप्रकाश ने ज़ोर देकर लिखा—"अब आप मेरे हेतु कोई कष्ट न उठावें। मुझे अपनी गुज़र करने के लिये काफ़ी से ज़्यादा मिलने लगा है।"

यद्यपि सत्यप्रकाश की दूकान ख़ूब चलती थी, लेकिन कलकत्ते-जैसे शहर में एक छोटे-से दूकानदार का जीवन बहुत सुखी नहीं होता। ६०)-७०) की मासिक आमदनी होती ही क्या? अब तक वह जो कुछ बचाता था, वह वास्तव में बचत न थी, बल्कि त्याग था। एक वक़्त रूखा-सूखा खाकर, एक तंग आर्द्र कोठरी में रहकर २५)-३०) बच रहते थे। अब दोनो वक़्त भोजन मिलने लगा। कपड़े भी ज़रा साफ़ पहनने लगा। मगर थोड़े ही दिनों में उसके ख़र्च में ओषधियों की एक मद बढ़ गई। फिर वही पहले की-सी दशा हो गई। बरसों तक शुद्ध वायु, प्रकाश और पुष्टिकर भोजन से वंचित रहकर अच्छे-से-अच्छा स्वास्थ्य भी नष्ट हो सकता है। सत्यप्रकाश को अरुचि, मंदाग्नि आदि रोगों ने आ घेरा। कभी-कभी ज्वर भी आ जाता। युवावस्था में आत्मविश्वास होता है। किसी अवलंब की परवा नहीं होती। वयोवृद्धि दूसरों का मुँह ताकती है, कोई आश्रय ढूँढ़ती है। सत्यप्रकाश पहले सोता, तो एक ही करवट में सवेरा हो जाता। कभी बाज़ार से पूरियाँ लेकर

खा लेता, कभी मिठाई पर टाल देता। पर अब रात को अच्छी तरह नींद न आती, बाज़ारू भोजन से घृणा होती, रात को घर आता, तो थककर चूर-चूर हो जाता। उस वक़्त चूल्हा जलाना, भोजन पकाना बहुत अखरता। कभी-कभी वह अपने अकेलेपन पर रोता। रात को जब किसी तरह नींद न आती, तो उसका मन किसी से बातें करने को लालायित होने लगता। पर वहाँ निशांधकार के सिवा और कौन था? दीवारों के कान चाहे हों, मुँह नहीं होता। इधर ज्ञानप्रकाश के पत्र भी अब कम आते थे, और जो आते थे, वे भी रूखे। उनमें अब हृदय के सरल उद्गारों का लेश भी न रहता। सत्यप्रकास अब भी वैसे ही भावमय पत्र लिखता था; पर एक अध्यापक के लिये भावुकता कब शोभा देती है? शनैः-शनैः सत्यप्रकाश को भ्रम होने लगा कि ज्ञानप्रकाश भी मुझसे निष्ठुरता करने लगा नहीं तो क्या मेरे पास दो-चार दिन के लिये आना असंभव था? मेरे लिये तो घर का द्वार बंद है, पर उसे कौन-सी बाधा है? उस ग़रीब को क्या मालूम कि यहाँ ज्ञानप्रकाश ने माता से कलकत्ते न जाने की क़सम खा ली है। इस भ्रम ने उसे और भी हताश कर दिया।

शहरों में मनुष्य बहुत होते हैं, पर मनुष्यता बिरले ही में होती है। सत्यप्रकाश उस बहु-संख्यक स्थान में भी अकेला था। उसके मन में अब एक नई आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर लौट चलूँ? किसी संगिनी के प्रेम की क्यों न शरण लूँ? वह सुख और शांति और कहाँ मिल सकती है? मेरे जीवन के निराशांधकार को और कौन ज्योति आलोकित कर सकती है? वह इस आवेश को अपनी संपूर्ण विचार-शक्ति से रोकता, पर जिस भाँति किसी बालक को घर में रक्खी हुई मिठाइयों की याद बार-बार खेल से घर खींच लाती है, उसी तरह उसका चित्त भी बार-बार उन्हीं मधुर चिंताओं में से मग्न हो जाता था। वह सोचता—मुझे विधाता ने सब सुखों

दिया जाता। किंतु देवप्रिया का अभिप्राय बिना पढ़े ही पूरा हो जाता था—सत्यप्रकाश के मर्मस्थान पर एक चोट और पड़ जाती थी।

एक महीने की भीषण हार्दिक वेदना के बाद सत्यप्रकाश को जीवन से घृणा हो गई। उसने दूकान बंद कर दी, बाहर आना-जाना छोड़ दिया। सारे दिन खाट पर पड़ा रहता। वे दिन याद आते, जब माता पुचकारकर गोद में बिठा लेती, और कहती—"बेटा!" पिता संध्या-समय दफ़्तर से आकर गोद में उठा लेते, और कहते—"भैया!" माता की सजीव मूर्ति उसके सामने आ खड़ी होती, ठीक वैसी ही जब वह गंगा-स्नान करने गई थी। उसकी प्यार-भरी बातें कानों में गूँजने लगतीं। फिर वह दृश्य सामने आता, जब उसने नववधू माता को 'अम्मा' कहकर पुकारा था। तब उसके कठोर शब्द याद आ जाते, उसके क्रोध से भरे हुए विशाल नेत्र आँखों के सामने आ जाते। उसे अपना सिसक-सिसककर रोना याद आ जाता। फिर सौर-गृह का दृश्य सामने आता। उसने कितने प्रेम से बच्चे को गोद में लेना चाहा था! तब माता के वज्र के-से शब्द कानों में गूँजने लगते। हाय! इसी वज्र ने मेरा सर्वनाश कर दिया! ऐसी कितनी ही घटनाएँ याद आतीं। जब बिना किसी अपराध के मा डाँट बताती, पिता का निर्दय, निष्ठुर व्यवहार याद आने लगता। उनका बात-बात पर त्योरियाँ बदलना, माता के मिथ्यापवादों पर विश्वास करना—हाय! मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया! तब वह करवट बदल लेता, और फिर वही दृश्य आँखों में फिरने लगते। फिर करवट बदलता, और चिल्ला उठता—"इस जीवन का अंत क्यों नहीं हो जाता!"

इस भाँति पड़े-पड़े उसे कई दिन हो गए। संध्या हो गई थी। सहसा उसे द्वार पर किसी के पुकारने की आवाज़ सुनाई पड़ी। उसने कान लगाकर सुना, और चौंक पड़ा—कोई परिचित आवाज़

थी। दौड़ा, द्वार पर आया, तो देखा, ज्ञान प्रकाश खड़ा है। कितना रूपवान् पुरुष था ! वह उसके गले से लिपट गया। ज्ञान-प्रकाश ने उसके पैरों को स्पर्श किया। दोनो भाई घर आए। अंधकार छाया हुआ था। घर की यह दशा देखकर ज्ञानप्रकाश, जो अब तक अपने कंठ के आवेग को रोके हुए था, रो पड़ा। सत्यप्रकाश ने लालटेन जलाई। घर क्या था, भूतों का डेरा था। सत्यप्रकाश ने जल्दी से एक कुरता गले में डाल लिया। ज्ञानप्रकाश भाई का जर्जर शरीर, पीला मुख, बुझी हुई आँखें देखता और रोता था।

सत्यप्रकाश ने कहा—"मैं आजकल बीमार हूँ।"

ज्ञानप्रकाश— यह तो देख ही रहा हूँ।"

सत्यप्रकाश—"तुमने अपने आने की सूचना भी न दी, मकान का पता कैसे चला ?"

ज्ञानप्रकाश—"सूचना तो दी थी, आपको पत्र न मिला होगा।"

सत्यप्रकाश—"अच्छा, हाँ, दी होगी, पत्र दूकान के पते से डाला गया होगा। मैं इधर कई दिनों से दूकान नहीं गया। घर पर सब कुशल है ?"

ज्ञानप्रकाश—"माताजी का देहांत हो गया।"

सत्यप्रकाश—"अरे ! क्या बीमार थीं ?"

ज्ञानप्रकाश—"जी नहीं। मालूम नहीं, क्या खा लिया। इधर उन्हें उन्माद-सा हो गया था। पिताजी ने कुछ कटु वचन कहे थे, शायद इसी पर कुछ खा लिया।"

सत्यप्रकाश—"पिताजी तो कुशल से हैं ?"

ज्ञानप्रकाश—"हाँ, अभी मरे नहीं हैं।"

सत्यप्रकाश—"अरे ! क्या बहुत बीमार हैं ?"

ज्ञानप्रकाश—"माता ने विष खा लिया, तो वह उनका मुँह

खोलकर दवा पिला रहे थे। माताजी ने ज़ोर से उनकी दो उँगलियाँ काट लीं। वही विष उनके शरीर में पहुँच गया। तब से सारा शरीर सूज आया है। अस्पताल में पड़े हुए हैं, किसी को देखते हैं, तो काटने दौड़ते हैं। बचने की आशा नहीं है।"

सत्यप्रकाश—"तब तो घर ही चौपट हो गया!"

ज्ञानप्रकाश—"ऐसे घर को अब से बहुत पहले चौपट हो जाना चाहिए था।"

❀ ❀ ❀

तीसरे दिन दोनो भाई प्रातःकाल कलकत्ते से बिदा होकर चल दिए।